स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

।। सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ।।

MAAH-104 N

राजनीतिक और न्यायिक विचार एवं संस्थाएँ

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013
www.uprtou.ac.in
टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333

MAAH-104N

राजनीतिक और न्यायिक विचार एवं संस्थाएँ
Political and Judicial Ideas and Institutions

परामर्श समिति

प्रो.सीमा सिंह, कुलपति, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

कर्नल विनय कुमार कुलसचिव, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठयक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो.सन्तोषा कुमार निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

प्रो.जे.एन.पाल पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज

प्रो.हर्ष कुमार आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज

प्रो.राजकुमार गुप्ता आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग प्रो.राजेन्द्र सिंह रज्जू भैया विश्वविद्यलय,प्रयागराज

डॉ.सुनील कुमार सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास,समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

लेखक	इकाई
डॉ.पंकज शर्मा, सह आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज	1–8
डॉ.राघवेन्द्र प्रताप सिंह, सह आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज	9–15

सम्पादक

प्रो.राजकुमार गुप्ता,आचार्य प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,प्रो.राजेन्द्र सिंह(रज्जू भैया) विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठयक्रम समन्वयक

डॉ.सुनील कुमार, सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAAH-104N

राजनीतिक और न्यायिक विचार एवं संस्थाएँ
Political and Judicial Ideas and Institutions

पाठयक्रम

इकाई 1 प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था के स्रोत

इकाई 2 राजनीति का प्राचीन भारतीय विज्ञान की अवधारणा, अध्ययन के मुख्य लक्षणः महाभारत, अर्थशास्त्र

इकाई 3 प्राचीन भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की अवधारणा और त्रिवर्ग के साथ इसका संबंध

इकाई 4 राजनीतिक सत्ता के उदय के ग्राम्य और कृषि पृष्ठभूमि, कामन्दक का नीतिशास्त्र, विदेशी विवरण

इकाई 5 राज्य की उत्पत्ति और प्रकार, राज्य के घटक तत्व, उनकी जैविक प्रकृति

इकाई 6 अष्टाध्यायी, महाभारत, पालि साहित्य, अर्थशास्त्र एवं यूनानी स्रोतों में वर्णित गणतंत्र

इकाई 7 राजत्व की उत्पत्ति एवं महत्व

इकाई 8 सभा, समिति, विदथ एवं पौर जनपद

इकाई 9 राजतन्त्रः मूल, दैवीय अधिकार, नियंत्रण और संतुलन

इकाई 10 मंत्रिपरिषदः संविधान और कार्य

इकाई 11 अंतर्राज्यीय संबंधः मंडल और षाड्गुण्य का सिद्धांत

इकाई 12 सैन्य संगठनः शस्त्र और युद्ध

इकाई 13 प्राचीन भारतीय न्याय–व्यवस्था एवं न्यायिक–प्रक्रिया–अपराध विधि एवं अपकृत्य

इकाई 14 मौर्य पूर्व राजव्यवस्था

इकाई 15 मौर्य राज व्यवस्थाः न्याय का समुदाय आधारित प्रशासन

इकाई –1 प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था के स्रोत

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्रोत

1.3.1 प्राचीन भारतीय साहित्य

1.3.2 धर्मनिरपेक्ष साहित्य

1.3.2.1 ऐतिहासिक ग्रन्थ

1.3.2.2 अर्द्ध–ऐतिहासिक

1.3.2.3 विदेशी स्त्रोत

1.3.2.4 जीवनियाँ

1.3.3 पुरातत्व सामग्री

1.3.3.1 अभिलेख

1.3.3.2 मुद्राएं

1.4 सारांश

1.5 बोध प्रश्न

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में मानव द्वारा अपने सामूहिक बल को समझने के साथ ही उसके ग्राम तथा बाद में नगर में आवास करने पर कानून व्यवस्था संबंधित उत्पन्न समस्याओं के निवारण एवं निराकरण हेतु नेतृत्व के महत्व को समझा गया। तत्पश्चात् राजनीतिक संगठन, राजनीतिक चिंतन तथा राजव्यवस्था का सूत्रपात हुआ। कालांतर में राजनीतिक चिन्तकों एवं राजनीतिक विचारकों ने भारत में राजनीतिशास्त्र जिसे उन्होंने दण्डनीति, अर्थशास्त्र, राजधर्म अथवा नीतिशास्त्र जैसे विविध व भिन्न नामों से पुकारा पर अनेक ग्रन्थों की रचना की तथा उनमें राजव्यवस्था, राजत्व, राजा के पद की उत्पत्ति एवं विकास, राजा के अधिकार तथा उत्तरदायित्व, प्रशासनिक व्यवस्था, शाासन–प्रणालियों व शासन संस्थाओं, राज्य संगठन के स्वरूप तथा तत्व आदि विषयों पर गहन अध्ययन करते हुए मौलिक विचारों का प्रतिपादन कर विस्तार से चर्चा और व्याख्या की। यहाँ यह बताना अति आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति मूलतः धर्मपरायण तथा धर्म आधारित थी। परिणामस्वरूप प्रारम्भिक ग्रन्थ व रचनायें धार्मिक ही रही तथा उनमें राजनीति विषयक अथवा अन्य विषय वस्तुओं का वर्णन या उनकी व्याख्या भी धर्म को केन्द्र बिन्दु मानकर ही हुई। तथापि आरम्भिक ग्रन्थों में न केवल राजनीति संबद्ध प्रत्यक्ष साक्ष्यों का अभाव प्रतीत ही होता है बल्कि कुछ आगे चलकर रचित धर्मेत्तर ग्रन्थों में भी परोक्ष रूप में ही सही, राजनीति संबंधित विषयवस्तु का विवेचन धर्म के आलोक में ही होता है। एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु यह भी है कि लगभग 1000 ई0 के पश्चात् राजनीति विषयक जिन ग्रन्थों की रचना हुई अथवा जिनकी उपलब्धता है उनमें मौलिकता का नितांत अभाव है।

1.2 उद्देश्य

यह इकाई प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था से संबंधित साक्ष्यों व स्रोतों से संबद्ध है तथा प्राचीन भारत में व्युतपन्न राजनैतिक विचारधाराओं व अवधारणाओं को प्रतिपादित करते विचारकों, चिन्तकों के ग्रन्थों व रचनाओं का व्यापक अवलोकन व आकलन करने का प्रयास करेगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारकों, चिंतकों और विचार संप्रदायों के बारे में जान पायेंगे।
- प्राचीन भारतीय राजनीति विषयक अथवा राजनीति शास्त्र पर आधारित रचनाओं व स्रोतों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय राजनीति शास्त्रीय स्रोतों में विद्यमान दृष्टिकोणों को समझ सकेंगे।
- प्रस्तुत विचारधाराओं के आधार पर प्राचीन भारतीय राजनीतिक स्रोतों के बीच अन्तर व भेद कर पायेंगे तथा
- स्रोतों के माध्यम से प्राचीन भारत में उदित था पल्लवित हुई राजनीतिक व्यवस्थाओं, उनके क्रमिक विकास व उसके विविध आयामों की पहचान कर, उनकी व्याख्या एवं तुलनात्मक वर्णन कर पायेंगे।

1.3 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्रोत

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख स्रोत निम्नवत है –

- प्राचीन भारतीय साहित्य
- विदेशी स्रोत
- पुरातत्व सामग्री

1.3.1 प्राचीन भारतीय साहित्य

इसके अन्तर्गत प्राचीन वैदिक साहित्य, ब्राह्मण साहित्य, उपनिषद, महाकाव्य, पुराण, स्मृतियाँ, बौद्ध और जैन साहित्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि आते हैं।

(1) वैदिक साहित्य – वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं, जिनकी संख्या चार है – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन वेदों में राज्य और शासन की उत्पत्ति, राजतंत्र की व्यवस्था, राजा का अधिकार तथा कर्तव्य, मंत्रिपरिषद का संगठन और उनके कार्य तथा शासन की नीति आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में विशेष रूप में आर्यों का प्रसार और उनके द्वारा स्थापित राजव्यवस्था और द्रविड़ों से संघर्ष आदि का वर्णन मिलता है।

(2) ब्राह्मण और उपनिषद – ब्राह्मण साहित्य में ऐतरेय, पंचविश, शतपथ आदि विशेष उल्लेखनीय है। ऐतरेय से प्राचीन राजाओं के राज्याभिषेक की व्यवस्था का; शतपथ से गांधार,

कैकय, कुरू, विदेह, कौशल राज्यों की व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है, उपनिषदों से हमें राजा परीक्षित से राजा बिम्बसार के काल तक के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है।

(3) रामायण और महाभारत – महाभारत का स्वरूप अर्द्ध–पौराणिक तथा अर्द्ध ऐतिहासिक है। महाभारत शान्तिपर्व में राज्य और सरकार का उल्लेख मिलता है। इससे राजशास्त्र की विकास परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत में अनेक राज्यशास्त्रियों का नामोल्लेख भी आया है। जैसे– 'विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, मनु, शुक्र, भारद्वाज, गरशिरा, कश्यप, वैश्रवण, कामवेश, शम्बर, कालक, वृक्षीय, उतथ्य, बसुलोम, कामन्दक, कीर्तिमान, कर्दम, मतंग, अतिबल, वैण्य, परीक्षित, कात्य और योगाचार्य आदि। इसके अतिरिक्त महाभारत में राजधर्म खण्ड एक अलग अध्याय है। सभापर्व में आदर्श प्रशासन की कल्पना की गयी है।

(4) पुराण – महाकाव्यों के पश्चात् भारतीय राजव्यवस्था पर 18 पुराणों में भी प्रकाश डाला गया है। विष्णु पुराण में मौर्यवंश, मत्स्य पुराण में आंध्रवंश, वायु पुराण में गुप्तवंश आदि का विशद वर्णन किया गया है। पुराणों में राजनीतिक विचार अव्यवस्थित रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें अग्निपुराण, सर्वाधिक, महत्वपूर्ण है। इसमें राजा और शासक के कर्तव्य, अधिकार, युद्धकौशल, कर, न्यायव्यवस्था आदि का उल्लेख किया गया है और राजा का प्रधान कर्तव्य जनकल्याण बताया गया है।

अनेक जातकों से तत्कालीन राजाओं की निरंकुशता तथा राजव्यवस्था का पता चलता है। इनमें राजाओं की नियुक्ति, वंशानुगत व्यवस्था, न्याय व्यवस्था आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

दीपवंश और महावंश नामक दो पाली ग्रंथों से मौर्यकालीन इतिहास के विषय में सूचना मिलती है। हीनयान का प्रमुख ग्रंथ कथावस्तु है, जिसमें महात्मा बुद्ध का जीवन चरित अनेक कथाओं के साथ वर्णित है। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ ललित विस्तार और दिव्यावदान हैं। जिसमें ललित विस्तार में बुद्ध को देवता मानकर उनके जीवन तथा उनके कार्यों का चमत्कारिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। वहीं दिव्यावदान से अशोक के उत्तराधिकारियों से लेकर पुष्यमित्र शुंग तक के शासकों के बारे में बताया गया है। संस्कृत बौद्ध लेखकों में अश्वघोष का नाम सबसे ऊपर है। **मिलिन्दपन्हो–** यह पालि ग्रन्थ है। इस पुस्तक में यूनानी नरेश मिलिन्द या मिनैन्डर और बौद्ध भिक्षु नागसेन का वार्तालाप है। इस ग्रंथ से तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक अवस्थाओं के अतिरिक्त आर्थिक अवस्था का भी पूर्ण विवरण प्राप्त होता

है। भारत के विदेशी व्यापार का तो इसमें सजीव चित्रण किया गया है। तत्कालीन राजनैतिक अवस्था का भी प्रासंगिक विवरण इस पुस्तक में प्राप्त होता है। **मंजूश्री मूलकल्प–** यह भी संस्कृत का ग्रन्थ है। इसमें मौर्यों के पूर्व तथा हर्ष तक की राजनैतिक घटनाओं का बीच–बीच में उल्लेख मात्र कर दिया गया है। यह ग्रन्थ भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काफी महत्व रखता है।

जैन साहित्य में आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित 'परिशिष्ट पर्वन्' ग्रंथ में मौर्यकाल का विस्तृत वर्णन मिलता है। आदिपुराण में उस समय की राजनीतिक व्यवस्था, संस्था तथा विचारों का विशेष उल्लेख मिलता है। परिशिष्ट पर्वन और भद्रबाहुचरित में चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन की प्रारंभिक तथा उत्तरकालीन घटनाओं का विवरण मिलता है। आचारांग सूत्र से जैन भिक्षुओं के आचार–नियमों का विवरण मिलता है। भगवतीसूत्र में महावीर के जीवन, उनके कार्यों का रोचक विवरण मिलता है। इन जैन ग्रन्थों से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना मिलती है। जैन धर्म का प्रारंभिक इतिहास कल्पसूत्र से ज्ञात होता है जिसकी रचना भद्रबाहु ने की थी।

1.3.2 धर्मनिरपेक्ष साहित्य

धर्मनिरपेक्ष साहित्य पाँच प्रकार का है–

1. ऐतिहासिक,
2. अर्द्ध–ऐतिहासिक
3. विदेशी विवरण
4. जीवनियाँ तथा
5. कल्पना–प्रधान एवं गल्प–साहित्य (विशुद्ध साहित्य)।

1.3.2.1 ऐतिहासिक ग्रन्थ

इसके अन्तर्गत राजाओं तथा उनके उत्तराधिकारियों का वर्णन, शासन–प्रबन्ध तथा अन्य राजनैतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी आती हैं। यहाँ ऐतिहासिक शब्द का जो वास्तविक अर्थ लिया गया है, उसका तात्पर्य राजाओं तथा उनके शासन–प्रबन्ध से है। इन पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों को ही संज्ञा दी गयी है।

1. राजतरंगिणी – कल्हण की राजतरंगिणी ही प्राचीन भारतीय साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसे ठीक अर्थ में ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसकी रचना 1149–50 ई. में हुई थी। राग–द्वेष–विनिर्मुक्त होकर तथ्यों की विवेचना करना ही कल्हण का उद्देश्य था। रातरंगिणी के लेखक का दृष्टिकोण पूर्णतया ऐतिहासिक था। उसने कश्मीर का पूर्ण इतिहास (आदिकाल से अपने काल तक का) लिखा है। विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् ही कल्हण ने अपनी पुस्तक की रचना की। यद्यपि इस ग्रन्थ में कुछ काल्पनिक कथाओं का समावेश है, पर सातवीं शताब्दी ई. के पश्चात् का जो कश्मीरी इतिहास इस पुस्तक में वर्णित है, उस पर पूर्ण विश्वास किया जा सकता है।

2. गुजराती इतिहासकार – कश्मीर की भाँति गुजरात में भी अपने वीरों के गुणगान तथा उनकी स्मृतियों को नवीन बनाने की प्रथा प्रचलित हुई। अनेकानेक कवियों तथा लेखकों ने इस ओर सफल प्रयास किया। सोमेश्वर का नाम इनमें विशेष रूप से लिया जा सकता हैं। इनकी दो पुस्तके रासमाला तथा कीर्ति–कौमुदी गुजराती इतिहास के कुछ पहलुओं पर काफी प्रकाश डालती हैं। अरि सिंह के सुकृति–संकीर्तन, राजशेखर के प्रबन्ध–कोष, जय सिंह के हम्मीर–मद–मर्दन तथा वस्तुपाल–तेजपाल–प्रशस्ति के अध्ययन से गुजरात का इतिहास आभासित हो जाता है। मेरुतुंग का प्रबन्ध–चिन्तामणि, उदयप्रभा की सुकृतिकीर्ति–कल्लोलिनी तथा बालचन्द्र का वसन्तविलास भी ऐसे ही गन्थ हैं, जिनसे गुजरात का इतिहास मुखरित हो उठता है। इन सभी ग्रन्थों तथा ग्रंथकारों का उद्देश्य प्रशस्ति एवं गुणगान रहा है, किन्तु इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का भी अभाव नहीं। चालुक्य–वंश के अधीन गुजरात की ऐतिहासिक गतिविधि का तो सजीव चित्रण हमे उपर्युक्तत गन्थों से ही प्राप्त होता है।

3. कौटिल्य का अर्थशास्त्र – राजशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का स्थान राजनीतिक ग्रन्थों में सर्वोच्च और विशिष्ट है। इसके अन्दर जिन राजनीतिक सिद्धान्तों का समावेश है, वे धर्मशास्त्रों के प्रभाव से अछूते रहे हैं। कौटिल्य के कथानानुसार ''पृथ्वी के लाभ तथा पालन के प्रयोजन से जो अर्थशास्त्र पहले के आचार्यों के द्वारा लिखे गये थे, उन सबका संग्रह करके तथा उनका सार ग्रहण करते हुए इस ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना की गयी है।'' कौटिल्य ने राजनीति के क्षेत्र में जिन विद्वानों की प्रशंसा की है, वे हैं– भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणयदन्त, वाताव्याधि, बाहुदन्ती पुत्र, कार्णङ्क भारद्वार, कात्यायन, छोटमुख, दीर्घचारायण, पिशुनपुत्र और किञ्जक। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजनीति से सम्बन्धित

5 मुख्य सम्प्रदायों का भी वर्णन किया है। यह सम्प्रदाय इस प्रकार हैं– मानव, बार्हस्पत्य, औशनस, पराशर और अम्मीय। ये सभी तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीनकाल में मानव की विचारधारा के विकास के साथ ही इन सम्प्रदायों का विकास होता गया।

4. मनु तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ – अर्थशास्त्र की रचना हो जाने के पश्चात् दीर्घकाल तक हिन्दू साहित्य में राजनीति विषय पर कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। एक तो यह सम्भव है कि 'अर्थशास्त्र जैसी पूर्ण रचना के कारण विद्वानों ने एसी रचना आवश्यक ही न समझी हो या लिखने का साहस ही न पाया हो। 200 ई. तक रचित मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णु स्मृति में भी राजा के कर्त्तव्य एवं उसके दण्ड विधान का विशद रूप में वर्णन किया गया है। यह विवेचना साधारण व्यवहार के लिए पर्याप्त एवं उचित थी।

5. कामन्दकीय नीतिसार – वास्तव में यह ग्रन्थ कौटिल्य के ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' का एक प्रकार से संक्षेपीकरण था। प्रो. अल्तेकर के अनुसार, ''कामन्दकीय नीतिसार कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सार मात्र है''। लगभग सातवीं–आठवीं शताब्दी ई. में कामन्दक ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनेकानेक सिद्धान्त अपनी पुस्तक नीतिसार में संग्रहीत किये तथा कुछ मौलिक पदों की रचना भी की। कामन्दकीय नीतिसार भी अर्थशास्त्र की भाँति प्रचलित हो गया और अनेकानेक संस्कृत टीकाकार तथा लेखकों ने इसे उद्धृत भी किया। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समक्ष कामन्दकीय नीतिसार का उतना महत्त्व नहीं, किन्तु उस युग के राजस्व–सिद्धान्त, राजा के कर्तव्य तथा अन्य सामाजिक रीतियाँ (जिनका सम्बन्ध राज्य तथा राज्य के हितों से था) कामन्दकीय नीतिसार से अधिक स्पष्ट हो जाती हैं।

6. शुक्रनीति – यह ग्रन्थ भी राजनीति से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अर्थशास्त्र की तरह इसमें राजनीति का परिपुष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। यद्यपि शुक्रनीति नामक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तो भी इस ग्रन्थ को शुक्र की नीति का सार कहा जाता है। वर्तमान में उपलब्ध संकलन में चार अध्याय हैं। महाभारत में इसे 1000 अध्यायों वाला कहा गया है। दण्डनीति तथा नृपतंत्र की इसमें विशद व्याख्या है। शासन व्यवस्था का उल्लेख करते समय इसमें लगभग सभी राजकर्मचारियों के कार्यों का विवेचन किया गया है। शुक्र के मतानुसार राजा को चाहिए कि वह प्रजा के हित को सर्वोपरि समझे और इसलिए प्रत्येक राजा के लिए विद्यालयों एवं चिकित्सालयों की व्यवस्था करनी चाहिए। राजा को चाहिए कि वह प्रजा की सर्वांगीण उन्नति करे। उसकी प्रगति की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करे। ऐतिहासिक

दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ की भी अपनी उपयोगिता है। इसके अध्ययन से तत्कालीन भारतीय समाज, उसके चिन्तन तथा उसकी प्रवृत्ति का पूर्ण बोध होता है। राजनीति–सम्बन्धी कुछ तथ्यों का ज्ञान (जो कि किसी विशेष राजा का नहीं है) हमें इसी प्रकार के नीतिग्रन्थों से होता है।

7. ब्राहस्पत्य अर्थशास्त्र – अर्थशास्त्र की परिपाटी में कम से कम बीस ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु वे या तो काल के प्रवाह में समाप्त हो गये, या किसी विशालकाय ग्रन्थ की महानता में विलुपत हो गये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पश्चात् केवल एक और अर्थशास्त्र प्राप्त होता है। जो बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के नाम से विख्यात है। विषय की उपयोगिता के दृष्टिकोण से ही इस ग्रन्थ को भी ऐतिहासिक ग्रन्थ की कोटि में रखा गया है। इसकी रचना–तिथि के विषय में कोई प्रामाणिक साक्ष्य प्राप्त नहीं है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसके कुछ अंशों की रचना नवीं तथा दसवीं शताब्दी ई. में हुई। उपरोक्त के अतिरिक्त राजनीतिक रत्नाकर, मानसोल्लास, युक्ति, कल्पतरू, राज कल्पतरू आदि प्रमुख रचनायें हैं जिनसे प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर प्रकाश पड़ता है।

1.3.2.2 अर्द्ध–ऐतिहासिक

इस वर्ग में जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है; उनके विषय में केवल इतना कहना होगा कि उनके लेखकों का उद्देश्य यद्यपि ऐतिहासिक न था, पर जिस मार्ग का अनुसरण करके ग्रन्थ–रचना हुई है, वह इतिहास के समानान्तर है। अतः इन ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं का प्रतिबिम्ब आभासित होता है। इन अर्द्ध–ऐतिहासिक ग्रन्थों में पाणिनि की अष्टाध्यायी, मार्गसंहिता, पतंजलि का महाभाष्य, कालिदास का मालविकाग्निमित्रम् तथा विशाखदत्त का मुद्राराक्षस विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी – यद्यपि यह एक व्याकरण का ग्रन्थ है, किन्तु इससे मौर्य–पूर्व तथा मौर्यकालीन राजनैतिक अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में कुछ व्याकरणों का उल्लेख किया गया है, जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके पूर्व भी संस्कृत के कुछ अन्य व्याकरण–ग्रन्थों की रचना हुई थी।

मार्गसंहिता – यह पुराण का एक भाग है। इसमें यवन–आक्रमणों का उल्लेख किया गया है। इसी ग्रन्थ से (कुछ अन्य साक्ष्यों को लेकर) हम प्रथम शति के लगभग या इसके आसपास भारत पर यवनों का आक्रमण होना जानते हैं।

पतंजलि का महाभाष्य – यद्यपि पाणिनि की अष्टाध्यायी के विवादाग्रस्त सिद्धान्तों तथा कुछ अवबोधगम्य नियमों को सुलझाने के अभिप्राय से ही पतंजलि ने महाभाष्य की रचना की, किन्तु प्रसंगतः उदाहरणों तथा स्पष्टीकरण के रूप में जिन उपादानों का प्रयोग किया गया है, उनसे प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

मालविकाग्निमित्रम् – यह सम्भवतः महाकवि कालिदास का प्रथम नाटक है। पूर्णतया साहित्यिक प्रवृत्ति का होते हुए भी इस ऐतिहासिक नाटक को अर्द्ध–ऐतिहासिक ग्रन्थों की कोटि में रखा जा सकता है। इस नाटक से शुंग–वंश तथा उसके पूर्ववर्ती राजवंशों की समकालीन राजनैतिक परिस्थिति का बोध होता है। राजकुलों के आन्तरिक जीवन का तो यह दर्पण है।

मुद्राराक्षस – विशाखदत्त–कृत यह नाटक यद्यपि कल्पना का आश्रय लेता हुआ अपनी साहित्यिकता की पूर्णता को प्राप्त करता है, पर चन्द्रगुप्त मौर्य, उसके मंत्री चाणक्य तथा कुछ तत्कालीन राजाओं का उल्लेख करके यह इतिहास को सुलझाने में बहुत कुछ योगदान देता है। संस्कृत साहित्य का सम्भवतः यह प्रथम जासूसी नाटक (यद्यपि इसे ऐतिहासिक नाटक की संज्ञा दी गयी) है जो मौर्यकालीन भारत पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

1.3.2.3 विदेशी स्त्रोत

भारत की प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था पर विदेशी यात्रियों और लेखकों ने भी समुचित रूप से प्रकाश डाला है। सिकन्दर से पूर्व स्काइलैक्स, हैरोडोट्स और ट्रेसियस आदि उल्लेखनीय हैं परन्तु इन लेखकों ने कभी भारत की यात्रा नहीं की अतः उनका भारत की राजनीतिक व्यवस्था सम्बन्धी विवरण उपयोगी नहीं है। सिकन्दर के साथ आने वाले लेखकों और विद्वानों में निर्याकस और अरिस्टोबुल्स आदि हैं, जिनका वर्णन राजनीतिशास्त्र के ज्ञान के लिए आवश्यक है। निर्याकस और अरिष्टबुलस की पुस्तक 'युद्ध का इतिहास' का वर्णन एरियन और प्लूटॉर्क के ग्रन्थों में भी मिलता है। सिकन्दर के पश्चात् आने वाले यात्रियों में मेगस्थनीज सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था का उपयोगी वर्णन किया है। चीनी यात्री फाह्यान, ह्वेनसांग तथा ईत्सिंग आदि हैं। तिब्बती साहित्य (लामा तारानाथ का विवरण), मुस्लिम इतिहासकार अलबरूनी की रचना 'तहकीक–ए–हिन्द' आदि अनेक विदेशी रचनाओं से भारतीय राजशास्त्र पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

विदेशी विवरणों के सम्बन्ध में एक बात प्रारम्भ में उल्लेखनीय है कि इनकी कुछ अपनी सीमाएँ हैं। यूनानी, रोमन, चीनी, तिब्बती आदि भारतीय परम्परा से प्रायः अपरिचित थे। उनमें से बहुतों को हमारी भाषा का ज्ञान न था। ऐसी स्थिति में इनकी रचनाओं या विवरणों में कुछ भ्रान्ति के दर्शन स्वभावतः होते हैं। टेसियस विचित्र रीति–रिवाजों की तालिका दे सकता है, फाह्यान तथा ह्वेनसांग को हर मंदिर बौद्ध–विहार दिखाई पड़ सकता था। पर, इन सीमाओं के होते हुए भी, हम विदेशियों के विवरणों के महत्त्व को कम नहीं कर सकते हैं। हम भारतीय इतिहास के साधनों का उल्लेख करते समय विदेशी विवरणों को इसीलिए और अधिक महत्त्व देते हैं कि उनमें से कुछ तो राजदूत के रूप में भी आये हैं जो प्रायः उत्तरदायित्त्वपूर्ण कार्य है। स्वतंत्र पर्यटकों की लगन एवं उनका उत्साह भी सराहनीय रहा है।

यूनानी–यूनानी विवरणों को सुविधानुसार तीन वर्गों में विभाजित कर दिया गया है– 1. सिकन्दर–पूर्व, 2. सिकन्दर–कालीन तथा 3. सिकन्दर के बाद

1. सिकन्दर के पूर्व के लेखक – सिकन्दर के पूर्व के यूनानी लेखकों में स्काई लैक्स, हिकेटिअस मिलेटस, हेरोडोटस तथा केसिअस के नाम उल्लेखनीय है। स्काई लैक्स एक यूनानी सैनिक था जो फारस के सम्राट् दारा के आदेशानुसार सिन्धु नदी का पता लगाने भारत आया था। उसने अपनी यात्रा का विवरण तैयार किया, किन्तु उसकी जानकारी विशेष कर सिन्धु–घाटी तक ही सीमित थी। इस परम्परा का दूसरा लेखक हिकेटिअस मिलेटस (ई. पू. 549–496 ई. पू.) था। इसका ज्ञान भी सिन्धु घाटी तक सीमित था। इस परम्परा के लेखकों में मूर्धन्य स्थान हेरोडोटस (ई. पू. 484–431 ई. पू.) का है। उसे इतिहास का जनक कहा जाता है। भारत की जानकारी हमें उसकी प्रसिद्ध रचना हिस्टोरिका में मिलती है। केसिअस यूनानी राजवैद्य था। इसने भी भारत के विषय में लिखा है किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से उसकी अधिकांश सामग्री सन्देहास्पद है। सिकन्दर के पूर्व के उपर्युक्त लेखकों के विवरण अक्षरशः सत्य और विश्वसनीय नहीं हैं, किन्तु इन विवरणों को अन्य शास्त्रों द्वारा प्रामाणिक बना कर कुछ लाभ उठाया जा सकता है।

2. सिकन्दर–कालीन – भारतीय इतिहास की सामग्रियों के अन्वेषण के क्षणों में सिकन्दर की स्मृति आ जाती है। सिकन्दर के साथ कुछ ऐसे भी उत्साही व्यक्ति आये थे जिन्होंने अपने भ्रमण का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया। इन लेखकों में अरिस्टोबुलस, निआर्कस, चारस, युमेनीस आदि प्रसिद्ध हैं। इन लेखकों ने सिकन्दर के आक्रमण का सजीव चित्रण किया है। यद्यपि

इनके ग्रन्थ मूल रूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु इनके परवर्ती लेखकों ने इनके ग्रन्थों के उद्धरणों को लेकर जिन ग्रन्थों की रचना की, उनसे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण से उपर्युक्त लेखकों का महत्त्व अधिक है।

3. सिकन्दर के बाद – सिकन्दर के भारत से लौट जाने के पश्चात् बहुत से यूनानी लेखक, राजदूत या यात्री के रूप में भारत आये। कुछ लेखकों ने सिकन्दर के अनुयायियों के आधार पर ही ग्रन्थ–रचना की, जिससे भारतीय इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इन लेखकों में मेगस्थनीज, प्लिनी, टॉलमी, डायमेकस, डायोडारस, प्लटार्क, एरियन, कार्टियस, जस्टिन, स्ट्रेबो आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

मेगस्थनीज यूनानी शासक सेल्यूकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया था। मेगस्थनीज कुछ दिनों तक (संभवतः 6 वर्षों तक) पाटलिपुत्र में निवास करके वापस लौट गया। उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थित के विषय में बहुत कुछ लिखा है। यद्यपि इसकी मूल पुस्तक उपलब्ध नहीं है किन्तु अन्य ग्रन्थों में इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिससे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। मेगस्थनीज की पुस्तक इण्डिका के सहारे कतिपय यूनानी तथा रोम के लेखकों ने भारतवर्ष का वर्णन किया है।

राजदूत के रूप में दूसरा व्यक्ति डायमेकस भारतवर्ष आया था। यह सीरिया के राजदरबार से आया था और बिन्दुसार के दरबार में कुछ दिनों तक रहा। इसी प्रकार डायोनीसियस भी राजदूत के रूप में भारतवर्ष आया था। उपर्युक्त दोनों लेखकों के मूल ग्रन्थों का कोई पता नहीं चलता। हाँ, इनके परवर्ती लेखकों ने इनके नाम का उल्लेख किया है और साथ ही इनके विवरण का भी अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है, जिसके आधार पर कुछ जाना जा सकता है। अन्य यूनानी लेखकों के केवल नाम तक ही गिनाये जा सकते हैं, क्योंकि उनके विवरण का कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। जो यात्री भारत के जिस कोने में पहुँच पाया, उसने उस आधार पर ही सम्पूर्ण भारत का चित्रण कर दिया।

टॉलमी दूसरा लेखक है, जिसका नाम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष उल्लेखनीय है। लगभग दूसरी शताब्दी ई. में उसने भारतवर्ष के भूगोल से सम्बन्धित एक पुस्तक लिखी। टॉलमी का दृष्टिकोण पूर्णतया वैज्ञानिक था, अतः इसके विवरण में सत्य का अंश अधिक है। यद्यपि भारत के भूगोल तथा उसके मानचित्र का ठीक–ठीक विचार टॉलमी के मस्तिष्क में नहीं आया था, तथापि उसका प्रयास पूर्णतया असफल नहीं माना जा सकता। टॉलमी के बाद

प्लिनी का नाम लिया जा सकता है। इसकी पुस्तक नेचुरल हिस्ट्री का भी इस क्षेत्र में बहुत महत्त्व है। प्लिनी ने भारतवर्ष के पशुओं, पौधों तथा खनिज–पदार्थों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक लगभग प्रथम शताब्दी ई. में लिखी गयी थी। एरियन भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारत पर मकदूनिया के विजेता के आक्रमण के विषय में कोई भी भारतीय ग्रन्थ प्रकाश नहीं डालता है। ऐसी अवस्था में यदि उपर्युक्त लेखकों ने अपनी पुस्तकों की रचना न की होती तो सिकन्दर के आक्रमणा का कोई ज्ञान हमें नहीं प्राप्त हो सकता था। इस तरह इनकी उपयोगिता निर्विवाद है। कर्टियस, जस्टिन तथा स्ट्रेबो की देन को भी हम भूल नहीं सकते। उनके विवरण में चाहे जितना भी अतिरंजन हो, चाहे जितनी भी काल्पनिक उड़ान हो, पर वे हमारे इतिहास के उलझे प्रश्नों को सुलझाने या उनका आंशिक ज्ञान कराने में निश्यच ही सहायक होते हैं। एक अज्ञात लेखक की पुस्तक इरिथियन सागर का पेरिप्लस भी ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करती है। भारतीय वाणिज्य पर इससे अधिक प्रकाश पड़ता है जो सम्भवतः अन्य किसी साधन से न प्राप्त होतां मिस्र के प्लूस्टस की पुस्तक क्रिश्चियन टोपोग्राफी ऑफ दि यूनिवर्स का भी उतना ही महत्व है। इस पुस्तक का रचना–काल लगभग 547 ई. है।

चीनी–भारत का बौद्ध धर्म लगभग प्रथम शताब्दी ई. में चीन पहुँचा तो चीन–निवासियों के हृदय में भारतवर्ष के प्रति एक विशेष रूचि उत्पन्न हो गयी। धार्मिक तथ्यों के अन्वेषन तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति के लिए चीनी यात्री लालायित हो उठे। उन्हें यह भी अटल विश्वास था कि गौतम बुद्ध की पावन जन्मभूमि निश्चय दर्शनीय तथा आध्यात्मिकता का कोष होगी। इन्हीं आकांक्षाओं से वशीभूत होकर चीनी भारतवर्ष आये और अपनी यात्रा का पूर्ण वृत्तान्त उन्होंने लिपिबद्ध किया। चीनी साहित्य से भारतीय इतिहास के एक लम्बे युग का परिचय प्राप्त हो जाता है। यात्रियों का दृष्टिकोण यद्यपि पूर्णतया धार्मिक था और किसी भी वस्तु को वे इसी दृष्टिकोण से देखते थे तथापि उनके विवरणों में से इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त हो जाती है।

चीन के प्रथम इतिहासकार शुमाशीन ने लगभग प्रथम शताब्दी ई. पू. में इतिहास की एक पुस्तक लिखी। शुमाशीन की इस पुस्तक से प्राचीन भारत पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। शुमाशीन के पूर्व अन्य किसी लेखक ने भारतवर्ष से सम्बन्धित किसी विषय पर प्रकाश नहीं

डाला था। जिन चीनी व्यक्तियों का इस सम्बन्ध में विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है, वे तीन यात्री फाह्यान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग हैं।

फाह्यान 399 ई. में यात्रा की कठोर यातनायें सहता हुआ भारतवर्ष आया। लगभग 15–16 वर्ष तक यह धर्म–जिज्ञासु भारतवर्ष में रहा और बौद्ध धर्म–सम्बन्धी तथ्यों का ज्ञानार्जन करता रहा। उस समय भारतवर्ष में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। उसने गंगावर्ती प्रान्तों के शासन–प्रबन्ध तथा सामाजिक अवस्था का पूर्ण विवरण लिपिबद्ध किया। फाह्यान की पुस्तक आज भी अपने मूल रूप में प्राप्य है। वह धार्मिक विषयों के अतिरिक्त, धर्मनिरपेक्ष विषयों की ओर बहुधा उदासीन रहा गया, जिससे उसका विवरण अधूरा–सा लगता है। पर बौद्ध धर्म के विषय में फाह्यान ने जो कुछ लिखा है वह पर्याप्त है। फाह्यान बौद्ध–सिद्धान्तों, परिपाट्टियों, नियमों तथा उसकी प्रगतियों के विषय में हमें पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है।

चीनी यात्रियों में ह्वेनसांग का स्थान अधिक ऊँचा है। यह लगभग 629 ई. में भारतवर्ष आया। उस समय हर्षवर्धन भारत का सम्राट् था। ह्वेनसांग बड़ा ही जिज्ञासु एवं उत्साही व्यक्ति था। उसने अपने जीवन के सोलह वर्ष भारतवर्ष के मठों, विहारों, तीर्थस्थानों तथा विश्वविद्यालयों के दर्शन में बिताये। केवल दक्षिणी भारत को छोड़कर ह्वेनसांग ने लगभग सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। वह राज सभाओं में भी गया। इसने पाश्चात्य संसार के देश नामक ग्रन्थ की रचना की। हर्षवर्धन के शासन–काल की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ परिचय ह्वेनसांग की पुस्तक से प्राप्त हो जाता है। धार्मिक अवस्था का तो इसने बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है। फाह्यान तथा इत्सिंग ने अपने समय के सम्राटों का नाम तक नहीं लिया है, जबकि ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन तथा उसके समसामयिक अन्य राजाओं के विषय में बहुत कुछ लिखा है। जिन–जिन राज्यों से होकर उसने अपनी यात्रा समाप्त की, उन सबका संक्षिप्त वर्णन उसने किया, साथ ही ह्वेनसांग ने सम्पूर्ण भारत की सामान्य अवस्था पर भी विशेष प्रकाश डाला। ह्वेनसांग के वर्णन के अभाव में सातवीं शताब्दी ई. का भारतीय सम्भवतः इतना अधिक सुलझा हुआ न होता कम से कम हर्षकालीन सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था के बोध के लिए तो हमें काफी भटकना पड़ता। अन्य सामग्रियों के साथ सामग्रियों के साथ तो ह्वेनसांग के वृत्तांत का अध्ययन अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

लगभग 637–95 ई. के बीच इत्सिंग नामक एक अन्य चीनी ने भारतवर्ष की यात्रा की। इसने भारतवर्ष की तत्कालीन धार्मिक अवस्था (विशेषकर बौद्ध धर्म की अवस्था) का सजीव

चित्रण किया है। इसका वर्णन यद्यपि ह्वेनसांग के समक्ष हल्का पड़ता है, पर फाह्यान के वर्णन से इसकी उपयोगिता कम नहीं है।

इन तीन सुप्रसिद्ध यात्रियों के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखकों से भी भारतीय इतिहास की सामग्री प्राप्त होती है। उन लेखकों में ह्वेली अधिक प्रसिद्ध है। यह ह्वेनसांग का मित्र था। इसने ह्वेनसांग की जीवनी लिखी, जिसके अध्ययन से भारतीय इतिहास की कुछ सामग्री प्राप्त होती है। **तिब्बती**–तिब्बती लेखक लामा तारानाथ के ग्रन्थों कंग्युर तथा तंग्युर से भी पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। वास्तव में, चीनी तथा तिब्बती लेखकों से ही मौर्यकाल के उपरान्त से लेकर शक, पार्थियन तथा कुषाण आदि के काल तक के अधिकांश इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है।

1.3.2.4 जीवनियाँ

साहित्यिक सामग्रियों में जीवनियों का काफी महत्त्व है। इन जीवनियों को यदि प्रशस्ति–काव्य कहा जाय तो अनुचित न होगा क्योंकि इनके लेखकों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में अपनी लेखनी का सदुपयोग किया है। उन लेखकों का दृष्टिकोण पूर्णतया साहित्यिक था। वास्तव में, साहित्य–सृजन के निमित्त ही उन्होंने राजाओं का परम्परानुसार आश्रय लिया था। अपनी साहित्यिक प्रतिभा के कारण ही वे आज तक सम्मानित हैं। इन जीवनी–लेखकों अथवा प्रशस्ति–गायकों की संख्या बहुत है, पर उनमें से कुछ ही ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं। एक साहित्यिक ग्रन्थ में उपमाओं कि जो झड़ी, अलंकारों का जैसा अलंकार तथा अत्युक्ति की जो युक्ति होनी चाहिए, वे सब इन जीवनयिों में हैं। इन ग्रन्थों की साहित्यिकता ही इनकी ऐतिहासिकता को ठेस पहुंचाती हैं।

हर्षचरित – जीवनी–साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हर्षचरित का बहुत ऊँचा स्थान है। इस काव्यात्मक संस्कृत गद्य की रचना संस्कृत गद्याचार्य बाणभट्ट ने लगभग 620 ई. में की थी। बाण कन्नौज तथा थानेश्वर के राजा हर्ष के दरबार में रहता था। अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय बाण ने हर्षचरित के अतिरिक्त अपने अन्य ग्रन्थ कादम्बरी में भी दिया; किन्तु कादम्बरी का कोई महत्त्व ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करने में नहीं है। बाण ने अपने आश्रयदाता हर्ष का जीवन–चरित्र अपने महान् ग्रन्थ हर्षचरित में लिखा, जिसकी महत्ता इतिहास की दृष्टि से सर्वमान्य है। हर्ष के प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी दिग्विजयों का पूर्ण विवरण हर्षचरित से प्राप्त किया जा सकता है।

अधिकांश जीवनी ग्रन्थ पूर्णतया साहित्यिक हैं। उनका वर्णन आलंकारिक है, अतः वे इतिहास से बहुत दूर चले जाते हैं, यद्यपि उनसे तत्कालीन अवस्था का थोड़ा–बहुत ज्ञान अवश्य प्राप्त हो जाता है परन्तु साहित्यिक ग्रन्थ होने के नाते इन्हें विशुद्ध साहित्य की कोटि में रखा जा सकता था, किन्तु ये जीवनी भी हैं, जिनका स्वतः एक पृथक् वर्ग है।

1.3.3 पुरातत्व सामग्री

प्राचीन अभिलेख, ताम्रपत्र और मुद्राएँ भी राजनीतिक चिन्तन की जानकारी करने के प्रमुख साधन है। इनसे भारत की प्राचीन कर व्यवस्था, शासन व्यवस्था, पड़ोसी राज्य के साथ सम्बन्ध, राज्य अधिकारियों के कार्य तथा दायित्व आदि अनेक तथ्यों का ज्ञान होता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की खुदाई से भारत की जनतंत्रात्मक व्यवस्था का ज्ञान होता है। गुफा लेख, शिलालख, ताम्रलेख आदि के द्वारा भी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर उचित प्रकाश पड़ता है। अशोक के अभिलेख, हाथी गुम्फा, जूनागढ़, गुप्तकालीन राजाओं, चोल राजाओं, हर्ष साम्राज्य आदि के अभिलेख भी प्राचीन राजशास्त्र के ज्ञान के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार खुदाई में प्राप्त सिक्कों से भी प्राचीन काल की राजनीतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है।

1.3.3.1 अभिलेख

अभिलेखों की उपयोगिता के विषय में केवल इतना कहना होगा कि जहाँ हर प्रकार के साधन शिथिल पड़ जाते हैं, वहाँ इन अभिलेखों से ही कुछ इतिहास जाना जा सकता है। प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था पर जितना प्रकाश इन अभिलेखों से पड़ सकता है, उतना अन्य किसी साहित्यिक या पुरातात्त्विक सामग्री से नहीं। प्राचीन भारत का इतिहास शिलाओं, ताम्रपत्रों तथा अन्य धातुओं पर जो कुछ उन प्राचीन लोगों ने लिख दिया है, वह अमिट है। साहित्यिक सामग्री की भाँति प्रायः उसमें प्रक्षिप्तांश नहीं हो सकते। भाषाविशेष से अभिलेखों का काल भी स्पष्ट हो जाता है। कुछ अभिलेख तो ऐतिहासिक श्रृंखला को स्थापित रखने में बहुत सहायक हुए हैं।

दुर्भाग्यवश अशोक के पहले का कोई अभिलेख नहीं प्राप्त होता। अशोक के काल से ही अभिलेखों का आरम्भ होता है। अशोक के बाद से सम्पूर्ण भारत में अभिलेखों का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त कुछ विदेशी अभिलेख भी हैं। जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास की सामग्री प्राप्त की जा सकती है। भारतीय अभिलेखों को भी अशोककालीन तथा अशोक के परवर्ती, दो

भागों में विभाजित किया गया है। अशोक कालीन अभिलेख से तात्पर्य स्वयं सम्राट अशोक परवर्ती, दो भागों में विभाजित किया गया है। अशोक कालीन अभिलेख से तात्पर्य स्वयं सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित अभिलेखों से है और अशोक के परवर्ती अभिलेखों में ये सभी राजकीय तथा अन्य अभिलेख आते है, जो बाद के सम्राटों द्वारा उनके काल में निर्मित हुए।

सर्वप्रथम अशोक के अभिलेखों पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि इनका स्वयं एक वर्ग है। अशोक जब कलिंग–विजय के पश्चात् अशोक–महान् हो गया तो अपनी आध्यात्मिक विजय के लिए उसने मानवता के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने का निश्यच किया। जनता–जनार्दन को हर प्रकार के कष्टों से मुक्त करना, उसे सुन्दर मार्ग पर लाने तथा राजा एवं प्रजा का निकट सम्बन्ध स्थापित करने के अभिप्राय से ही अशोक ने अपने सम्पूर्ण राज्य के कोने–कोने में स्तम्भ तथा शिलालेखों का जाल बिछा दिया। अपनी राजाज्ञा तथा घोषणाओं को अशेक ने स्तम्भों तथा शिलाओं पर उत्कीर्ण करया। सर्वसाधारण को अंधकार से प्रकाश में लाने के लिए ही उसने ऐसा किया। अशोक का उद्देश्य जो कुछ भी रहा हो, पर इतिहास के विद्यार्थी के लिए ये अभिलेख अधिक मूल्यवान् हैं। अशोक कालीन सभ्यता तथा संस्कृति पर इन अभिलेखों से बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। स्वयं अशोक ही भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग है और इसका पूर्ण इतिहास जानने के लिए हमें इसके अभिलेखों का ही सहारा लेना पड़ता है। अतः इन अभिलेखों की उपयोगिता इस विषय में निर्विवाद है। विश्व–इतिहास में इस प्रकार के अभिलेख नहीं पाये जाते।

प्राचीन भारत के इतिहास को प्रकाशित करने में अशोककालीन तथा अशोक के पश्चात् के अभिलेख ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अब तक 1500 से भी अधिक संख्या में विभिन्न प्रकार के अभिलेख गुप्तकाल के पहले के प्राप्त हुए हैं। उन सबक किसी ने किसी विषय में उपयोगिता है, पर उन असंख्य अभिलेखों का उल्लेख करना यहाँ असम्भव है।

अशोक के पश्चात् के अभिलेखों में जिन्हें राजकीय कहा जा सकता है, कुछ प्रशस्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अभाव में हमें भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ तक का भी बोध न हो पाता। इसमें हरिषेण की प्रशस्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह प्रशास्ति समुद्रगुप्त की प्रशंसा में अशोक स्तम्भ के नीचे ही उत्कीर्ण की गयी है जो आकल प्रयाग (इलाहाबाद) के किले में है। गुप्त–वंश के महान् सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजयों तथा उसके वैयक्तिक गुणों पर पूर्ण प्रकाश डालने वाली सामग्री इस प्रशस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। सम्भवतः

इस प्रशसित के अभाव में हम समुद्रगुप्त की महत्ता न जान पाते। गुप्त–वंश का इतिहास जानने में कुछ अन्य अभिलेखों का भी सहारा लेना पड़ता है।

अनुदानों की स्वीकृति–सम्बन्धी अनेक गुप्तकालीन अभिलेख प्राप्त हुए है जो प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण गुप्त–नरेशों से सम्बन्धित हैं। मुहरों एवं मुद्राभिलेखों की संख्या को तो हम निश्चित रूप से एक बहुत भारी, अतः असंख्य कह सकते हैं। चन्द्रगुप्त–द्वितीय, कुमार गुप्त, स्कन्दगुप्त आदि का इतिहास इन अभिलेखों से उसी प्रकार अधिक प्रकाशित हो पाया है, जैसे प्रयाग–प्रशस्ति से समुद्रगुप्त का। गुप्तों की वंशावली के निर्माण में तो इन अभिलेखों का बहुत बड़ा हाथ है। यह अनुदान–पत्रों, मुहरों तथा मुद्राभिलेखों की ही देन है कि गुप्तों के उस अन्धकारपूर्ण इतिहास की भी एक स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकी है – जहाँ अन्य साक्ष्य या तो मौन थे या फिर भ्रामक विवरण प्रस्तुत कर रहे थे।

ऐहोल–अभिलेख से, जो चालुक्य–नृपति पुल्केशिन द्वितीय की प्रशस्ति में उत्कीर्ण किया गया है, चालुक्य–वंश के सुप्रसिद्ध सम्राट् का ज्ञान प्राप्त होता है। असंख्य दानपत्र, समर्पण–पत्र तथा स्मारक के रूप में अभिलेखों का निर्माण हुआ, जिनसे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का बोध होता है। हथिगुम्फा का अभिलेख खारवेल राजाओं पर पूर्ण प्रकाश डालता है।

अभिलेख संस्कृत, प्राकृत अथवा मिश्रित, तमिल, तेलगू तथा कन्नड़ आदि भाषाओं में खुदे हुए हैं। इन विभिन्न कोटि के अभिलेखों के अध्ययन से केवल किसी विशेष राजा के विषय में ही जानकारी नहीं होती है, अपितु इनकी भाषा के आधार पर तत्कालीन शक्तिशाली अथवा प्रचलित भाषा की लोकप्रियता अथवा उसकी शक्ति का पता चलता है। साथ ही तत्कालीन साहित्यिक शैली एवं साहित्य की प्रगति का भी बोध होता है। कला के विभिन्न अंगो पर प्रकाश डालने में ये अभिलेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दानपत्रों से राज्य की सीमाओं का बोध होता है। राजा तथा प्रजा के बीच भूमि–सम्बन्धी समझौते का भी पता इन अभिलेखों से मिलता है। प्रशस्ति–अभिलेखों के अतिरिक्त अन्य वर्ग के अभिलेख भी प्रशस्ति से ही आरम्भ किये जाते थे, जिनसे तत्कालीन राजकुलों का ज्ञान प्राप्त होता है।

असंख्य भारतीय लेखों के अतिरिक्त कुछ विदेशी लेख भी प्राप्त हुए हैं जो हमारे इतिहास पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इनमें एशिया माइनर में बोगजोई के लेख में वैदिक देवताओं का उल्लेख किया गया है। आर्यों के संक्रमण का बोध इस अभिलेख से होता है।

पर्सिपोलीस तथा नक्शेरुस्तम (ईरान) के अभिलेखों से प्राचीन भारत तथा ईरान के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है।

1.3.3.2 मुद्रायें

पुरातात्त्विक सामग्रियाँ ऐतिहासिक सूचनायें प्राप्त करने के साधनों में अपना विशेष महत्त्व रखती हैं, मुद्राओं का स्थान इनमें काफी ऊँचा है। इस क्षेत्र में मुद्राओं की महानता के प्रमुख कारण ये हैं कि ये निष्पक्ष हैं, अर्थात् इनमें किसी सम्प्रदाय–विशेष या किसी मत–विशेष का पक्ष लेकर पक्षपातयुक्त तथ्य का सम्पादन नहीं होता। ये पूर्णतया राजकीय होती हैं (केवल जाली सिक्कों को छोड़कर)। इनसे जो कुछ सूचना प्रतिपादित होती है, उस पर काफी विश्वास किया जा सकता है। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि ये राजाओं की वंश–परम्परा का बोध कराती हैं। तिथि एवं नामयुक्त मुद्राओं का तो इस क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व है। इनसे हमें इतिहास की उलझी हुई तिथियों का बोध होता है। जिन मुद्राओं में तिथियाँ नहीं भी दी गई हैं, वे भी कम महत्त्व की नहीं, क्योंकि उनकी तकनीक के आधार पर उनके समय का निर्धारण कुछ अन्वेषण के पश्चात् किया जाता है। मुद्राओं की अन्य विशेषता यह है कि इनसे राजाओं के साम्राज्य–विस्तार का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, पर मुद्राओं के प्राप्ति–स्थान के आधार पर साम्राज्य–विस्तार के निर्धारण में काफी सावधानी से काम लेना पड़ता है; क्योंकि केवल मुद्राओं के प्राप्त होने से यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस स्थान तक अमुक सम्राट् का आधिपत्य है। इनके कुछ अन्य आर्थिक कारण भी हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्राओं से देश की राजनैतिक परिस्थित पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

मुद्रायें राजनैतिक परिस्थित के अतिरिक्त आर्थिक परिस्थिति पर भी कुछ प्रकाश डालती हैं। उनकी धातुओं के आधार पर हम तत्कालीन आर्थिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उत्तम कोटि की धातु की निर्मित मुद्राओं के बाहुल्य का अर्थ है – समाज धन–धान्यपूर्ण था और निम्नकोटि की धातुओं की मुद्राओं से तत्कालीन आर्थिक हीनता का बोध होता है। वास्तव में मुद्राओं में धातुओं की उत्तमता कुछ तो राजकोष की समृद्धि पर आधारित है और कुछ चलाने वाले सम्राट की रूचि एवं परिपाटी पर निर्भर है।

मुद्राओं का एक और महत्त्व भी है। ये सम्राट–विशेष के धर्म तथा उसकी रुचि की ओर भी ध्यान आकृष्ट करती हैं। मुद्राओं पर उत्कीर्ण चिन्हों से हमें ज्ञात होता है कि अमुक राजा,

अमुक धर्म का अनुयायी था; पर कुछ ऐसे उदाहरण हैं कि एक ही मुद्रा पर विभिन्न धार्मिक चिन्ह उत्कीर्ण हैं। कनिष्क मुद्राओं को हम इसी कोटि में रख सकते हैं। फिर भी अधिकांश मुद्रायें जिन कोई विशेष धार्मिक चिन्ह उत्कीर्ण है, राजाओं के धर्म का ठीक–ठीक बोध कराती हैं। राजाओं की रुचि का तो बिलकुल ही ठीक बोध इन मुद्राओं से होता है। यदि मनोवैज्ञानिक आधार पर मुद्राओं के आकार–प्रकार, उन पर उत्कीर्ण पशु–पक्षी एवं अस्त्र–शस्त्र का अध्ययन किया जाए तो उस राजा के वैयक्तिक जीवन का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

गुप्त सम्राटों के इतिहास के विभिन्न साधनों में मुद्रायें भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। समुद्रगुप्त की मुद्राओं के आधार पर ही हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। उसकी मुद्राओं पर उत्कीर्ण वीणा के आधार पर ही हम उसे संगीत–कला का प्रेमी घोषित करते हैं।

1.4 सारांश

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दू संस्कृति के बोधक ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर प्राचीन भारतीय राजनीति के तत्व बिखरे पड़े हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत लेख राजशास्त्र के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। वास्तव में अर्थशास्त्र, महाभारत, जातक ग्रन्थ, राजनीति रत्नाकर, वीर मित्रोदय, राजनीति ममूख इस काल की उपलब्ध रचनायें हैं । विविध विसंगतियों से भारतीय साहित्य का बहुत हिस्सा आक्रामणकारियों ने नष्ट कर दिया, संभव है कि अन्य उपयोगि ग्रंथ रहे हों। प्राचीन भारतीय नीति एवं धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थ भी राजनीति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

1.5 बोध प्रश्न

1-राजव्यवस्था के स्त्रोत के रूप में वैदिक साहित्य का महत्व बताइये।

2-कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय वस्तु समझाइये।

3-राजतरंगिणी का भारतीय स्त्रोत के रूप में वर्णन कीजिए।

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।
5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।
7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 राजनीति विज्ञान के लिये प्रयुक्त अनेक नाम एवं परिभाषाएँ

2.3 प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र का इतिहास अथवा विकास

2.4 महाभारत तथा अर्थशास्त्र के मुख्य लक्षण

2.5 सारांश

2.6 बोध प्रश्न

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 प्रस्तावना

प्रथम इकाई में हमनें प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था से संबंधित मुख्य स्रोतों का अध्ययन किया। इन स्रोतों के अवलोनकन एवं अध्ययन से ही सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति की परिकल्पना एवं अवधारणा प्राचीन भारत में प्रारम्भिक काल से ही विद्यमान थी। कालान्तर में राजनीति के परिष्कृत होने के उपरान्त उसके राजनीतिशास्त्र में परिवर्तित होने पर वह भारतीय मानस में स्थापित भी हो गई। जब राजनीति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जोड़ दिया गया तब राजनीति विज्ञान का पदार्पण हुआ। राजत्व, राज्यव्यवस्था, राजकीय प्रशासन, दण्ड विधान आदि का तार्किकता एवं व्यवहारिकता परक बोध ही प्राचीन भारत में राजनैतिक अध्ययन एवं समझ को राजनीतिशास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान के स्तर तक ले जाने में या रूपांतरित करने में सफल हुआ। राजनैतिक विकास को तदोपरान्त उसकी क्रमबद्धता तथा उसकी व्यवस्थाओं, लक्षणों और प्रणालियों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने या परखने का प्रयास होने लगा।

2.1 उद्देश्य

यह इकाई राजनीति की प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक अवधारणा का निष्पादन करते हुए, राजनीति एवं राजनीति विज्ञान के अध्ययन के मुख्य लक्षणों को समझने का प्रयास करेगी। इसके लिए यह अध्याय राजनीति के विविध नाम, राजनीतिशास्त्र की विभिन्न विधाओं, उसके इतिहास तथा उसके महत्व पर प्रकाश डालेगा। इस अध्याय को पढ़ने समझने के पश्चात् आप

- प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान के उदय के बारे में जान पायेंगे।
- प्राचीन भारत में राजनीति की वैज्ञानिक अवधारणा का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- राजनीति विज्ञान के विभिन्न नामों तथा इसके इतिहास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राजनीति विज्ञान संबंधी विभिन्न विचार सम्प्रदायों को समझ सकेंगे।
- राजनीति विज्ञान तथा दण्डनीति के महत्व का सहज प्रतिपादन कर सकेंगे।
- प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र के विकास को जान सकेंगे।

2.2 राजनीति विज्ञान के लिये प्रयुक्त अनेक नाम एवं परिभाषाएँ

प्राचीन भारत में राजनीति विज्ञान के लिए राजधर्म, राज्यशास्त्र, दण्डनीति, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र जैसे विभिन्न नामों अथवा शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन भिन्न नामों से उनकी परिभाषायें भी कुछ पृथक हुई हैं। राजधर्म का अर्थ था 'राजा के कर्तव्य' जबकि राज्यशास्त्र का तात्पर्य था 'राज्य का विज्ञान'। क्योंकि राजतांत्रिक प्रणाली ही मुख्यतः प्राचीन भारत में शासन पद्धति थी इसलिए राजनीति विज्ञान को राजधर्म अथवा राज्यशास्त्र कहा गया। दण्डनीति शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय विचारकों ने दो अर्थों में किया। मनु का विचार था कि दण्ड ही विधान अथवा कानून है। उनका मानना था कि राजसत्ता की सफलता शक्ति के प्रयोग में ही निहित है तथा इसके अभाव में 'मत्स्यन्याय' (जंगल के कानून) जो अराजकता लेकर आएगा, ही स्थापित हो जाएगा। अतएव राजा दण्ड अथवा बल प्रयोग के माध्यम से ही समाज तथा प्रजा को सुरक्षित व अनुशासित रख सकता है। यद्यपि उसका मानना यह भी था कि राजा को दण्ड का प्रयोग विवेकपूर्ण तरीके से करना चाहिए अन्यथा प्रजा उद्वेलित होगी और उसे उसके कोप का भाजन होना पड़ सकता है। दूसरी ओर कौटिल्य जैसे विचारक दण्ड को इस संकुचित रूप में स्वीकारने को तैयार नहीं है। उनका मानना है कि दण्ड को मात्र निषेधात्मक रूप में देखना अनुचित है। उनके अनुसार दण्ड सकारात्मक है क्योंकि वह समाज में कानून व्यवस्था स्थापित करता है एवं सामान्य नागरिकों में अनुशासित व्यवहार की प्राकृतिक भावना जागृत करता है। इस प्रकार वह बल प्रयोग की निरंतर आवश्यकता को अनावश्यक बना देता है तथा अंततः समाज में सामंजस्य एवं स्थायित्व लाता है। कदाचित इसीलिए महाभारत में उषनस कहता है कि प्रत्येक संबंध (सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक) के मूल में केवल दण्डनीति है। मनु तो यहाँ तक कहता है कि वास्तव में दण्ड ही राजा है, वही वास्तविक शासक (नेता) है तथा वही वास्तविक संरक्षक है। परिणामस्वरूप राजा के कार्य तथा कर्त्तव्यों एवं राजकल्याण से संबध्द नियमों को ही स्वाभाविक रूप से दण्डनीति कहा गया।

राजनीति विज्ञान पर लिखे गए उषनस तथा प्रजापति के ग्रन्थों को दण्डनीति ही कहा गया और बाद में कौटिल्य के अर्थशास्त्र को भी इसी नाम से जाना गया।

राजनीति विज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ एक और पर्यायवाची शब्द था अर्थशास्त्र। यद्यपि इस शब्द का जो सामान्य शाब्दिक अर्थ है वह तो संपत्तिशास्त्र के रूप में ही इसकी व्याख्या

करता है परन्तु कौटिल्य इसे परिभाषित करते समय स्वयं ही कहता है कि 'अर्थ' शब्द का अभिप्राय है– ''मनुष्यों द्वारा बसी हुई भूमि'', जिसके ''लाभ और पालन के सम्बन्ध में जो शास्त्र व्यवस्था करे, उसे अर्थशास्त्र कहा जाता है।'' कौटिल्य ने जो 'अर्थ' को परिभाषा दी है वह बड़ी महत्वपूर्ण है। वस्तुतः इससे राज्य संस्था का ही बोध होता है तथा यह प्रमाणित होता है कि अर्थशास्त्र एक संपत्तिशास्त्र विषयक ग्रन्थ न होकर दण्डनीति अथवा राजनीति का ही प्रतिपादन करता है। मुख्य रूप से 'राज्य' के तीन प्रमुख तत्व हैं– भूमि, मनुष्य और संगठित राजसत्ता। इनमें से प्रथम दो तत्वों का समावेश तो कौटिल्य के 'अर्थ' में ही हो गया है तथा तृतीय तत्व प्राचीन राजनीति मूलक ग्रन्थों में 'दण्ड' नाम से पुकारा गया है।

प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में दण्डनीति, अर्थशास्त्र तथा राजधर्म–शास्त्र नामक त्रयी का विशेष महत्व है। इस कारणवश कई बार इनका प्रयोग पर्यायवाची रूप में कर दिया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अंतिम अध्याय में अपनी कृति के लिए केवल 'शास्त्र' को प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य अर्थशास्त्र या दण्डशास्त्र के रूप में लिया जा सकता है। अन्यत्र दण्डी ने दशकुमारचरित में, अमरसिंह ने अमरकोश में तथा विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में या तो कौटिल्य के ग्रन्थ को दण्डनीति कहा है अथवा दण्डनीति और अर्थशास्त्र को समानार्थी बताया है।

राजनीति विज्ञान के लिए प्रयुक्त एक और नाम था नीतिशास्त्र। शब्द संरचना विज्ञान के अनुसार इसका अर्थ है उचित मार्गदर्शन अथवा दिशानिर्देश। नीतिशास्त्र का एक सम्बन्ध आचारनीति विज्ञान से भी है। जबकि एक और मायने में इसको विवेक विज्ञान से भी जोड़ा गया है क्योंकि इसपर चलकर समृद्धि, ज्ञान एवं विवेक प्राप्त होती है। पाँचवी शताब्दी ई0 के आते–आते जब इसे राज्य की आंतरिक तथा विदेश नीति में शुचिता के संबद्ध करके देखा जाने लगा तब इसे राजनीतिशास्त्र के समतुल्य स्वीकार किया गया। परिमणामवश कामण्दक तथा शुक्र ने अपने ग्रन्थों का नाम 'नीति' रखा न कि दण्डनीति अथवा अर्थशास्त्र। यह माना गया कि राज्य व्यवस्था अथवा राजसत्ता का मुख्य उद्देश्य है समाज की समृद्धि एवं सर्वांगीण विकास। यही नीतिशास्त्र का भी आधार बिन्दु अथवा अधिकार क्षेत्र माना गया है।

शुक्र नीतिसार में यह लिखा गया है कि किस प्रकार नीतिशास्त्र के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चहुमुखी लक्ष्यों की प्राप्ती होती है।

2.3 प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र का इतिहास अथवा विकास

अब हम प्राचीन भारत में नीतिशास्त्र के उदय एवं विकास की व्याख्या की ओर अग्रसर होते हैं। राजनीतिशास्त्र अथवा विज्ञान पर व्यवस्थित साहित्य हमे लगभग 500 ई. पू. से ही प्राप्त होता है उससे पहले से नहीं। यह स्वाभाविक भी था तथा अर्ध धर्मेत्तर साहित्यिक विषय जैसे कि व्याकरण, शब्द संरचना विज्ञान तथा ज्योतिष से संबंधित रचनाओं का उद्‌भव ही लगभग 800 ई. पू. के बाद होना आरम्भ हुआ। ऐसे में राजनीति विज्ञान विषयक ग्रंथों की उत्पत्ति 500 ई. पू. के लगभग होना कोई अतिशयोक्ति नहीं थी। इससे पहले के वैदिक साहित्य से हमें सीमित ही साक्ष्य प्राप्त होते हैं तथा राजनीति विज्ञान पर जो संदर्भ मिले भी हैं वह कुछ प्रत्यक्ष हैं तथा कुछ परोक्ष, कुछ स्पष्ट हैं तथा कुछ अस्पष्ट। ऋग्वेद से तो केवल कुछ ही सूचना मिलती है। अथर्ववेद से अधिक ज्ञान प्राप्त होता है परन्तु यह उद्धरण राजत्व संस्था से संबद्ध हैं न कि प्रशासन अथवा राजनीति विज्ञान से। व्यवस्थित रूप से राजनीतिक विज्ञान विषयक ग्रन्थों का उद्‌भव धर्मशास्त्रों की रचना के समसामयिक माना गया है।

सातवीं–छठीं शताब्दी ई0 पू0 के लगभग जब भारत में छोटे राज्यों का उदय हुआ तब वहाँ के शासकों के समक्ष राज प्रशासन संबंधित समस्यायें आयीं। उनके निवारण हेतु हमें समसामयिक ग्रन्थों में स्पष्टीकरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर के राजनीति परक प्रश्नों के निराकरण हेतु विस्तार से व्याख्या की है। पाश्चात्य जगत में राजनीति विज्ञान का एक स्वतंत्र विषय के रूप में उत्थान लगभग दो शताब्दी बाद हुआ जब अरस्तु ने 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रन्थ की रचना की।

वस्तुतः राजनीति विज्ञान विषयक संदर्भों, वर्णनों, व्याख्या तथा ज्ञान के लिए हमें महाभारत तथा अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थों का ऋणी होना चाहिए। विशेषतया महाभारत के शान्तिपर्व तथा अर्थशास्त्र में राजनीति विज्ञान के दर्शन तथ सिद्धान्त का विस्तार से विवेचन हुआ है। यह जानना रूचिकर है कि यह दो ग्रन्थ जो पृथक समय पर रचित हुए तथा एक दूसरे से प्रभावित न होकर स्वतंत्र रूप से रचे गए और जिनके स्रोत भी अलग थे, वो राजनीति विज्ञान के प्राचीन भारतीय लेखकों एवं विचारकों के नामों को लेकर लगभग एक मत है। दोनों ही ग्रन्थ राजनीति विज्ञान के महान विचारकों जैसे कि शिव–विशालक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज, गौरशीर, पराशर, वातव्याधि, कात्यायन आदि के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की

व्याख्या करते हैं। दोनों ही ग्रन्थ अर्द्ध–पौराणिक तथा अर्द्ध–ऐतिहासिक हैं तथा इसी प्रकार इनके प्रणेता भी महामानव मान लिए गए हैं।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के आरम्भ में ही लिखा है कि पृथिवी के लाभ तथा पालन के प्रयोजन से जो–जो अर्थशास्त्र पहले के आचार्यों ने लिखे थे, प्रायः उन सबका संग्रह करके ही इस अर्थशास्त्र की रचना की गई है। इससे यह प्रमाणित होता है कि पहले भी बहुत से आचार्यों ने अर्थशास्त्र की रचना की थी। इन आचार्यों के अतिरिक्त कौटिल्य अर्थशास्त्र में पाँच सम्प्रदायों के मत को भी उद्धृत करता है। प्राचीन ग्रीस की तरह ही प्राचीन भारत में भी विचार सम्प्रदायों की सत्ता विद्यमान थी, यह इससे प्रमाणित होता है। यही सम्प्रदाय जो गुरू शिष्य परंपरा पर आधारित थे उनकी स्थापना विशिष्ट प्रकार के विचारों के विकास हेतु हुई।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में मानवाः, बार्हस्पत्याः, औशनसाः, पाराशराः तथा आम्भीयाः जैसे सम्प्रदायों एवं आचार्याः, अपरे, और एके जैसे पूर्ववर्ती मतों का उल्लेख किया है। दर्शनशास्त्र के छः आस्तिक संप्रदायों के अतिरिक्त कौटिल्य ने लोकायत नामक नास्तिक संप्रदाय का भी वर्णन किया है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में बुद्ध से पूववर्ती 62 संप्रदायों का उल्लेख किया गया है। इन सभी मत संप्रदायों ने अपने–अपने स्वाभाव, प्रकृति के अनुसार राजनीति शास्त्र पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व में भी उनके पूर्ववर्ती राजशास्त्र प्रणेताओं तथा विचारकों का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ के नाम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी आये हैं। महाभारत के ही कथनानुसार पूववर्ती विशालाक्ष के नीतिशास्त्र में दस हजार, इन्द्र के नीतिशास्त्र में पाँच हजार तथा बृहस्पति के अर्थशास्त्र में तीन हजार अध्याय थे। इनके अतिरिक्त कीर्तिमान, कर्दम, अनंग, अतिवल, वैण्य, पुरोधा, काव्य और योगाचार्य नामक राजशास्त्र विचारकों का वर्णन किया है। यह राजनीति विज्ञान के प्राचीन भारत में क्रमिक विकास को प्रदर्शित करने का पर्याप्त प्रमाण है।

भार्गव प्रणीत 'रामचरित आख्यान' से भी ये श्लोक शान्तिपर्व में उद्धृत किए गए हैं। इसी प्रकार एक और सहस्र अध्यायों वाले एक विशाल नीतिग्रन्थ का भी महाभारत में उल्लेख है जिसकी समग्र विषय सूची का वर्णन मिलता है। इस विषय सूची का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि राजनीतिशास्त्र एवं राजनीति विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों,

उप–विषयों का समावेश हो गया था। कामन्दव नीतिसार में भी अनेक प्राचीन मतों का समन्वय तथा समावेश मिलता है।

2.4 महाभारत तथा अर्थशास्त्र के मुख्य लक्षण

महाभारत राजनीति विज्ञान को प्रतिपादित करने वाला एक अनूठा, अद्‌भुत और मौलिक ग्रन्थ है। विशेषरूप से इसका शान्तिपर्व राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। इसके एक खण्ड में राजधर्म की विस्तार से व्याख्या की गई है। इसी खण्ड में राजा के कर्त्तव्यों तथा सरकार के उत्तरदायित्वों का विवेचन है। अध्याय 63–64 में यह राजनीति विज्ञान के महत्व पर प्रकाश डालता है। अध्याय 56, 66, 67 में राज्य तथा राजत्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय 55–57, 70, 76, 94, 96 तथा 120 में राजा कर्त्तव्यों तथा अध्याय 73, 82, 83, 85, 115, 118 में उसके मंत्रियों के कर्त्तव्यों की विस्तृत जानकारी है। अन्य राज्य कर्मचारियों व अधिकारियों के उत्तरदायित्वों की सूची अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण में ही मिलती है। शान्तिपर्व के अध्याय 87 में आंतरिक प्रशासन तथा अध्याय 80, 87, 99, 100–103, 110, 113 में विदेश नीति उसकी समस्याएँ, युद्ध एवं शान्ति संबंधित विषयों का उल्लेख है। शान्तिपर्व के राजधर्म खण्ड के अतिरिक्त महाभारत के अन्य पर्वों तथा अध्यायों में राजनीति संबंधित समस्याओं तथा उनके निवारण के संदर्भ हैं। सभापर्व के अध्याय 5 में आदर्श प्रशासन का वर्णन है। आदिपर्व के अध्याय 142 में विशेष परिस्थितियों में कूटनीति के प्रयोग का उल्लेख है तथा सभापर्व के अध्याय 32 एवं वनपर्व के अध्याय 25, 32, 33 एवं 150 में आपातकाल नीति पर रोचक चर्चा की गई है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र को पन्द्रह अधिकरणों में विभक्त किया गया है। यह ग्रन्थ भी महाभारत के ही समतुल्य है तथा इसमें राजनीति विज्ञान परक विषय वस्तु का गहनता से प्रतिपादन हुआ है। अर्थशास्त्र धर्मेत्तर ग्रन्थ है। जहाँ धर्मसूत्र ग्रन्थों में राजधर्म पर अत्यधिक बल है वहीं इसके विपरीत अर्थशास्त्र का मुख्य विषय राज्य का अध्ययन है। प्रथम अधिकरण में राजत्व की प्रमुख समस्याओं पर चर्चा करते हुए, अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण में नागरिक प्रशासन की संपूर्ण व्याख्या हुई है। अगले दो (3–4) अधिकरणों में दीवानी (सिविल) फौजदारी (आपराधिक) तथा व्यक्तिगत कानूनों का वर्णन हैं। अधिकरण पाँच में राजा के सभासदों के उत्तरदायित्वों की विवेचना है तथा अधिकरण छः में राज्य की सात प्रकृतियों के कार्यों की चर्चा की गई है। अंतिम नौ अधिकरणों (7–15) में विदेश नीति एवं उसकी दुविधाओं, राजत्व के

मण्डल सिद्धान्त तथा उससे संबंध प्रणालियों एवं पद्धतियों, युद्ध एवं संधि, शत्रु, बल को दुर्बल करने जैसे विषयों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस प्रकार यह राजनीति विज्ञान के एक सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ के साथ–साथ एक प्रशासक के लिये नियमावली भी है। उसका मुख्य सरोकार प्रशासन की व्यवहारिक समस्याओं से है।

2.5 सारांश

प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान के मुख्य स्रोतों से हमें प्राचीन भारतीय राजनैतिक अवधारणा का ज्ञान प्राप्त होता है तथा यह पता चलता है कि मूलतः सातवीं–छठीं ई0पू0 में ही राज्यों अथवा जनपदों के स्थापना उपरांत राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्था, राजनीतिक परंपराओं, राजत्व संबंधित सिद्धान्तों एवं परिपाटियों का सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन एवं विश्लेषण होना आरंभ हो गया। इस समय तथा उसके बाद के भारतीय विचारकों ने इनसे पूर्व में प्रस्तुत विचारों एवं राजनीतिक विषयक ग्रन्थों को जाना, समझा तथा संकलित किया। तदोपरान्त उन्होंने देश, काल, समय जनित परिवर्तनों का ध्यान रखते हुए तथा उनका समावेश करते हुए राजनीति पर आधारित कुछ नूतन ग्रन्थों का निर्माण किया। इन ग्रन्थों में प्राचीन भारत में राजनीति विज्ञान के उद्‌भव एवं विकास के भिन्न आयामों का गहनता से प्रतिपादन हुआ तथा दण्डनीति, राजधर्म, नीतिशास्त्र, राज्यशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन विश्लेषण हुआ। राजा के कर्त्तव्यों, उसके उत्तरदायित्वों, उसके राजदण्ड शक्ति के प्रयोग, राजकल्याण से संबद्ध नियमों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई। इस परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारत में राजनीति विज्ञान पर सर्वाधिक वस्तुनिष्ठ व्याख्या अर्थशास्त्र तथा महाभारत (विशेष रूप से शान्ति पर्व) से मिलती है।

अंततः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकते है कि राजनीति विज्ञान के प्रारम्भिक विकास काल में उसे राजधर्म कहा जाता था। बाद में उसके लिए दण्डनीति शब्द का प्रयोग होने लगा तथा यह अधिक प्रचलित भी हुआ और लोकप्रिय भी। अर्थशास्त्र का प्रयोग इसके एक विकल्प के रूप में होने लगा। तथापि समय बीतने के साथ राजनीतिशास्त्र, जिसका कि संक्षिप्त रूप नीतिशास्त्र हो गया, उसका प्रयोग ही लोकप्रिय हुआ और इसने शनःशनः अन्य सभी पूर्व में प्रयुक्त रूपों का स्थान ले लिया।

2.6 बोध प्रश्न

1-प्राचीन भारतीय राजनीति विज्ञान की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

2-महाभारत के मुख्य लक्षण बताइये।

3-अर्थशास्त्र के बारे में आप क्या जानते हैं?

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।
5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।
7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई–3 प्राचीन भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की अवधारणा और त्रिवर्ग के साथ उसका संबंध

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 प्राचीन भारत में राज्य–निर्माण तथा राजनीतिक अर्थव्यवस्था

3.4 प्राचीन भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा त्रिवर्ग

3.5 सारांश

3.6 बोध प्रश्न

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.1 प्रस्तावना

कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र ने निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट कर दिया कि प्राचीन भारतीय राजनैतिक दृष्टिकोण में 'अर्थ' (संसाधनों) का स्थान अग्रणी था। साथ ही यह भी स्थापित हुआ कि कुशल प्रशासनिक संगठन व प्रबंधन तथा संसाधनों का पोषण व संरक्षण को वस्तुतः पर्यायवाची समझा गया। तथापि अर्थशास्त्र 'अर्थव्यवस्था' संबंधित ग्रन्थ न होकर राजकीय प्रशासनिक एवं कूटनैतिक रचना मानी गयी।

किन्तु प्राचीन–भारत में राजनैतिक अर्थव्यवस्था का आरम्भ 'अर्थशास्त्र' अथवा कौटिल्य के काल में न होकर उससे पहले ही हो चुका था। क्योंकि आरंभिक समय से ही राजनैतिक सत्ता के आस्तित्व व विकास में आर्थिक संसाधनों के महत्व व उनकी अपिहार्यता अथवा अनिवार्यता को राजनैतिक विचारकों ने समझ लिया, परिणाम स्वरूप जनजातीय समाज के काल में तथा कृषि व ग्राम्य जीवन के स्थायी काल में क्रमशः मवेशियों (पालतू पशु) तथा कृषि/खेती योग्य भूमि को प्रधान संसाधन के रूप में स्वीकारा गया। भोजन संग्रहण तथा पशुचारी मानव जीवन में अस्थायी तथा घुमन्तु जीवन के चलते ग्रामों की स्थापना न हो सकी। ग्राम्य जीवन की सामुदायिक निर्भरता के आभाव में और साथ ही संसाधनों की अस्थायी प्रवृत्ति के कारणवश न तो कानून–व्यवस्था की अनिवार्यता अथवा एक शक्तिशाली सार्वभौम सत्ता की आवश्यकता ही महसूस की गयी और न ही उस प्रकार के संसाधनों का विशेषकर करों के रूप में प्राचीन–भारत के आरम्भिक (वैदिक तथा उत्तर–वैदिक काल) में समुचित नियोजन हो सका।

इन सभी परिस्थितियों में परिवर्तन व रूपांतरण उत्तर–वैदिक काल के पश्चात् छठी शताब्दी ई0 पू0 में विशाल महाजनपदों तथा अनेकों प्रभावशाली गणसंघों तथा गणतंत्रों (कुलीनतंत्रों) के उदय में परिलक्षित होता है।

कालान्तर में बौद्ध–जैन धर्मों व महाजनपदों के समय से चौथी शताब्दी ई0 पू0 में नन्द तथा मौर्य साम्राज्यों की स्थापना तथा भारत में राजनीतिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक प्रणालियों व तन्त्रों का विकास हुआ तथा इनसे संबंधित संस्थाएं परिष्कृत हुई।

राजनैतिक अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक संगठन में हुए परिवर्तनों तथा विकास का कारण व परिणाम निजि संपत्ति की विचार धारा, वर्ग अथवा जाति विभाजन और परिवार के उदय जैसे कारकों को माना गया। अतएव मौर्य काल तथा उसके पश्चात भारतीय राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्थाओं का सीधा सम्बन्ध मानव के व्यक्तिगत जीवन की विभिन्न अवस्थाओं/पड़ावों (जिन्हें–धर्मशास्त्रों में 'आश्रम' कहा गया) तथा उसी व्यक्तिगत एवं सामाजिक क्रियाओं–जिनसे मानव जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति होती हो (धर्मशास्त्रों में वर्णित 'पुरुषार्थ') के साथ जोड़ने का प्रयास हुआ।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई प्राचीन भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की अवधारणा तथा उसका मानव जीवन के मुख्य उद्देश्यों के साथ परस्पर संबंध पर आधारित है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः–

- प्राचीन भारत में राजनैतिक अर्थव्यवस्था के उदय तथा विकास और साथ ही उसके स्वरूप की अवधारणा का ज्ञान प्राप्त कर पाऐंगे।
- प्राचीन भारत में राजनैतिक–प्रशासनिक व आर्थिक संगठन की उत्पत्ति व विकास के साथ भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं में आए परिवर्तनों को जान पाऐंगे।
- त्रिवर्ग, चतुवर्ग, पुरुषार्थ जैसे शब्दों व उनकी शब्दावली और उनके अर्थ को समझ पाऐंगे।
- उपरोक्त शब्दों की परिभाषा के अतिरिक्त उनके परस्पर संबंध, भेद तथा उनके तुलनात्मक महत्व (पदानुक्रम) और उनके क्रमिक विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राचीन भारत में राजनीतिक अर्थव्यवस्था की अवधारणा (विचारधारा) का त्रिवर्ग के साथ संबंध का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

3.3 प्राचीन भारत में राज्य–निर्माण तथा राजनीतिक अर्थव्यवस्था

500 ई0 पू0 से पहले के कोई भी साहित्यिक स्रोत एक क्षेत्रिय राज्य के दो मूल तत्वों– केन्द्रीय स्थायी सेना तथा स्थायी कर व्यवस्था के विद्यमान होने की पुष्टि नहीं करते हैं। पुरातात्विक तथा साहित्यिक साक्ष्यों से हमें यह जानकारी भी मिलती है कि भारत में सर्वप्रथम धातु मुद्रा का प्रचलन भी लगभग इसी समय से आरम्भ हुआ। जैसा कि पहले भी इंगित किया जा चुका है निर्विवादित रूप से उत्तर वैदिक काल के राज्यों का उदय कृषि के विकास से ही संभव हो पाया।

क्योंकि आरम्भिक राज्य नदियों के समीप उपजाऊ मैदानों में उभरे, परिणामतया कृषि का तेजी से विकास हुआ व कृषि प्रधान समाज में नवीन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं का आर्विभाव हुआ। कृषि के विस्तार व विकास से कर के रूप में राज्य की आय का एक स्थायी स्रोत उत्पन्न हुआ तथा आधिक्य (surplus) अधिग्रहीत करके राज्य प्रशासन बलवान हुआ। हेनरी जे. एम. क्लाईसन के द्वारा प्रारम्भिक राज्य के सात मुख्य घटकों पर यदि हम ध्यान दें तो हम पाऐंगे कि यदि यदा–कदा अपवादों को छोड़ दिया जाऐ तो मूलतः यह भी अर्थशास्त्र में प्रतिपादित राज्य की सप्तांग विचारधारा से ही प्रेरित है। यद्यपि क्लाइसन की अवधारणा में दुर्ग, अमात्य व मित्र उल्लेखित नहीं हैं तथापि राज्य संगठन के महत्वपूर्ण तत्व जैसे कि जनता, क्षेत्र (जनपद), जनता (समाज) में वर्ग विभाजन, केन्द्रीय नियन्त्रण, स्थायी सेना की उपलब्धता तथा अधिशेष अथवा आधिक्य (surplus) का कर के रूप में संग्रहण व समायोजन–प्राचीन भारतीय राजसत्ता की परिभाषा के समरूप हैं।

प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों ने एक स्थायी व निर्बाध कर व्यवस्था, पेशेवर स्थायी सेना तथा प्रशासनिक तंत्र को एक पूर्ण राज्य के विद्यमान होने का मुख्य कारक माना है। इन सब घटकों में भी कर व्यवस्था की उत्पत्ति को कौटिल्य ने सबसे सर्वोपरि माना है। उनका मानना है एक पेशेवर सेना केवल कोष के माध्यम से ही रखी जा सकती है तथा राज्य की सीमा या उसके क्षेत्र (जनपद) को सिर्फ समृद्ध कोष तथा सेना के द्वारा ही सुरक्षित अथवा विस्तृत किया जा सकता है। कौटिल्य का यह भी विचार था कि राज्य की सीमा में अधिकतम निवासी निचले वर्गों (अवरवर्णप्राय) के होने चाहिऐं क्योंकि वही सुचारू व निरंतर रूप से कर दे सकते हैं तथा श्रम–शक्ति प्रदान कर सकते हैं।

धर्मसूत्रों तथा बाद में बौद्ध पाली ग्रन्थों में वैधानिक रूप से वंशानुगत शासक वर्ग की उत्पत्ति का विशेष उल्लेख आया है। परन्तु न तो धर्मसूत्रों में और न ही आरम्भिक पालि ग्रंथों में राजा को समग्र भूमि का स्वामी माना गया। नागरिकों की सुरक्षा राजा का प्रधान कर्तव्य था अतएव इसी को राजा के अधिकार का मानक बनाने का प्रयास हुआ। गौतम ने 1/6, 1/8 या 1/10 के दर से 'बलि' कर का प्रावधान किया। 'बलि' का बाद के समय में 'भाग' के रूप में रूपांतर हुआ। कर के रूप में 'भाग' जो कि ऐच्छिक न होकर अनिवार्य कर था उसकी उगाही राजा कर सकता था तथा उसे ही 'भाग' का अधिकारी माना गया। हालांकि पालि ग्रन्थों ने यह प्रावधान दिया कि राजा को भाग व अन्य करों को धम्म सम्मत रूप में ही लगाना चाहिए तब भी जातकों में 'अकाशिषा' तथा 'टुण्डिया' जैसे अत्याचारी कर अधिकारियों के वर्णन से यह प्रमाणित है कि कुछ राजा आतातायी हो अत्यधिक करों के माध्यम से जनता को सताते थे।

3.4 प्राचीन भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा त्रिवर्ग

प्राचीन भारत में चतुर्वर्ण तथा चतुर्आश्रमों के बाद चतुर्वर्ग का विकास हुआ। इतिहासकारों व इतिहासविदों का प्रायः यह मानना है कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार वर्ग जिन्हें कालान्तर में 'पुरुषार्थ' भी कहा गया मानव (व्यक्ति) के चार प्रमुख क्रिया–कलाप अथवा उसके व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य या लक्ष्य हैं। किन्तु बहुतेरे इतिहासकारों ने इन चारों में से अंतिम को जीवित व्यक्ति के कार्य सीमा की परिधि से बाहर होने के कारण 'मोक्ष' को मनुष्य के प्रमुख क्रिया–कलापों का अंग न मानते हुए, पहले तीन को ही स्वीकारा और उन्हें संयुक्त रूप से 'त्रिवर्ग' के नाम से परिभाषित किया।

हमारे पास ऐसे कोई साक्ष्य नहीं है जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि पूरे वैदिक काल के लगभग 1000 वर्षों में त्रिवर्ग या चतुर्वर्ग की अवधारणा विद्यमान रही हो। वेदों के कालोपरान्त भी त्रिवर्ग की अवधारणा का प्रस्फुटन पहले हुआ एवं 'मोक्ष' जिसका विभिन्न संदर्भों में प्रयोग विभक्ति, विद्रोह या दासत्वमुक्ति के रूप में भी हुआ है– को बाद में त्रिवर्ग के साथ जोड़ा गया। परन्तु एक आदर्श के रूप में त्रिवर्ग अथवा चतुर्वर्ग की अवधारणा को ख्याति उत्तर मौर्य काल एवं गुप्त काल में प्राप्त हुई।

विभिन्न संदर्भों, परिपेक्षों, परिस्थितियों में तथा कुछ बार भिन्न काल खण्डों अथवा भौगोलिक क्षेत्रों में त्रिवर्गों या चतुवर्गों की परिभाषा तथा व्याख्या बदलती रही। धर्म की अवधारणा इस विचार पर आधारित थी कि यह ब्रह्मांड विशिष्ट प्राकृतिक कानूनों द्वारा संचालित है तथा लोगों के जीवन को मार्गदर्शन देने वाले नैतिक कानून प्राकृतिक कानूनों के अनुरूप ही होने चाहिऐं। धर्म, समाज में रह रहे व्यक्ति के ऐसे समुचित व आदर्श आचरण व व्यवहार का द्योतक था जो मानव जीवन के उद्देश्यों या लक्ष्यों की पूर्ति की ओर ले जाता हो। अतएव प्रथम दृष्टया 'धर्म' से तात्पर्य था समुचित तथा सम्यक आचरण या व्यवहार, 'अर्थ' का मतलब था भौतिक या आर्थिक कुशल–क्षेम, 'काम' का अर्थ था ऐंद्रीय उपभोग/आनंद तथा 'मोक्ष' का तात्पर्य था जीवन के संतापों तथा पुनर्जीवन के चक्र से मुक्ति तथा आध्यात्मवाद। पुरुषार्थों की इस पूरी योजना में अधिकाशं ग्रन्थों ने, जीवन के लक्ष्यों के आधार पर, जोर देकर 'अर्थ' को 'धर्म' तथा अन्य लक्ष्यों का मूलाधार बताया है। साथ ही इस पूरी अवधारणा में भौतिक अर्जन तथा ऐंद्रिय सुखों को सर्वाधिक वांछित लक्ष्य बताया गया है यदि वह धर्म सम्मत हों। क्योंकि एक वर्ण विभाजित समाज में, जिसमें व्यक्ति के कर्तव्यों पर सर्वाधिक बल था तथा जिसमें सभी विधि ग्रन्थों (धर्मशास्त्रों) के मूल में धर्म था, इसी कारणवश त्रिवर्ग अथवा चतुर्तर्ग के पदानुक्रम का आरम्भ 'धर्म' से हुआ।

वस्तुतः संस्कृत भाषा में अंक तीन संपूर्णता का प्रतीक है। वेंडी डोनिजर के अनुसार सर्वप्रथम वात्सायन कृत कामसूत्र में ही मानव जीवन के लक्ष्यों के रूप में पुरुषार्थों या त्रिवर्गों या त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का उल्लेख हुआ। तद्पश्चात मनुस्मृति में इन तीन मानव उद्देश्यों का सह–संबंध 'तत्व' के तीन गुण जो तीन प्रकार की दैहिक क्रियाओं (अच्छा, बुरा, तटस्थ), क्रिया के तीन आधार (मन–हृदय, वाणी, देह) तीन काल (भूत, वर्तमान, भविष्य), तथा पुनर्जन्म की तीन प्रजाति (देव, मानव, पशु) के साथ स्थापित करने का प्रयास हुआ। डोनिजर के अनुसार वैदिक जीवन में वेदान्ती प्रवृति जो कि सन्यासोन्मुख तथा सांसारिकता से विमुख थी– के समावेष के परिणाम स्वरूप ही बहुत 'त्रयी' व्यवस्थाऐं 'चतुर्मखी' हो गईं।

पैट्रिक ओलिविये (Patric Olivelle) के अनुसार साहित्यिक व लिखित सामग्री (साक्ष्यों) के गहन अध्ययन के उपरांत यह स्पष्ट होता है कि पाँचवी शताब्दी ई0 से पहले त्रिवर्ग की अवधारणा स्थापित नहीं हुई थी। साथ ही 'अर्थ' की आरंभिक परिकल्पना तथा 'त्रिवर्ग' में उसकी स्थिति ऐसी किसी वस्तु के रूप में हुई जो मानव के लिए लाभकारी अथवा

श्रेयस्कर हो। उनके अनुसार 'पुरुषार्थों' के परिपेक्ष में 'अर्थ' का मतलब जीवन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य नहीं है अपितु मिमांसा तथा अर्थशास्त्र, की परिभाषाओं के अनुरूप ही 'अनर्थ' (जो हानिकारक हो) के विपरीतार्थी शब्द के रूप में हितकारी वस्तु के रूप में हुआ है। बाद के ग्रन्थों में अवश्य ही अर्थ का प्रयोग 'त्रिवर्ग' के घटक के रूप में हुआ है। इसी प्रकार पाँचवीं शताब्दी ई0 तक हमें कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता जो यह सत्यापित कर सके 'त्रिवर्ग' के संदर्भ में 'पुरुषार्थ' शब्द का प्रयोग हुआ हो। अमर सिंह के अमरकोष में ही सर्वप्रथम त्रिवर्ग तथा चतुर्वर्ग ('मोक्ष' को सम्मिलित करके) का प्रयोग हुआ। प्राचीन भारतीय लेखकों व विचारकों के लिए–धर्म, अर्थ तथा काम नामक त्रिवर्ग, मानव जीवन के उद्देश्यों व लक्ष्यों के परिचायक नही हैं, जिस प्रकार कि उन्हें आधुनिक समय में देखा–समझा जाता है। अपितु वह मानव गतिविधियों व क्रिया–कलापों के तीन ऐसे प्रधान क्षेत्रों का प्रतिनिधत्व करती हैं जो उनका अनुसरण करने वाले व्यक्ति के लिए हितकारी व लाभकारी सिद्ध हों।

यहाँ यह उल्लेख करना अनिवार्य है कि वर्ग के परिपेक्ष में सबसे पहले अर्थशास्त्र में ही 'त्रिवर्ग' शब्द का प्रयोग हुआ। कौटिल्य के त्रिवर्ग सिद्धान्त में 'अर्थ' व 'अनर्थ' (ऊपर उल्लेखित) के भेद को स्पष्ट किया गया है। साथ की अर्थ, धर्म व काम में कौटिल्य अर्थ को सर्वोपरि मानते हुए राजा को सर्वप्रथम अर्थ के संरक्षण का निर्देश देता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य 'अर्थविग्रह' शब्द के माध्यम से अर्थ के द्विमुखी महत्व को उजागर करता है। जहाँ पहले संदर्भ में वह अर्थ का तात्पर्य लाभ अथवा श्रेयसकर वस्तु या स्थिति बताता है वहीं त्रिवर्ग के परिपेक्ष में वह इसका मतलब भौतिक, राजनैतिक तथा सैन्य लाभ के रूप में ही लेता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि प्रशासनिक अधिकारियों के चुनाव अथवा परीक्षण के लिये अर्थशास्त्र में उल्लेखित प्रावधान (जिन्हें उपधा परीक्षण कहा गया) वह भी तीन स्तर के थे – धर्मोपधा, अर्थापधा तथा कामोपधा।

यद्यपि संदर्भ तथा परिपेक्ष भिन्न हैं तथा इनका उल्लेख 'त्रिवर्ग' के संबंध में नहीं हुआ है तथापि द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 से ही आपस्तंबधर्मसूत्र और गौतमधर्मसूत्र में क्रमशः दो तथा तीन परुषार्थों का वर्णन हुआ है। गौतम धर्मसूत्र पदानुक्रम में धर्म को अर्थ तथा काम के ऊपर रखता है। बौद्धायन धर्मसूत्र, आपस्तंबधर्मसूत्र की भांति मात्र धर्म व अर्थ को ही उल्लेखित करता है।

3.5 सारांश

इस प्रकार हम इस अध्याय/इकाई में पाते हैं कि भारत में राजनीतिक सत्ता व व्यवस्था अर्थव्यवस्था से पूर्ण रूप से संबंधित थी। प्राचीन भारतीय राजनैतिक अर्थव्यवस्था में धर्म का महत्व सैद्धान्तिक रूप से सर्वाधिक था तथापि व्यवहारिक स्तर पर 'अर्थ' को सर्वोच्च माना गया।

जहाँ अर्थशास्त्र में त्रिवर्ग के सभी अंगों के व्यक्तिगत व सामूहिक महत्व व उनके परस्पर संबंधों और पदानुक्रम की भिन्न परिपेक्षों में विस्तार से व्याख्या की गई, वहीं अर्थशास्त्र के पूर्व के साहित्यिक ग्रन्थों में मात्र धर्म तथा अर्थ का ही संदर्भ मानव गतिविधियों के रूप में मिलता है। अर्थशास्त्र में ही सर्वप्रथम धर्म, अर्थ व काम का संयुक्त रूप से 'त्रिवर्ग' रूप में उल्लेख हुआ। कालान्तर में दोनों महाकाव्यों (रामायण एवं महाभारत) – विशेषकर महाभारत, तथा वात्सायन के कामसूत्र में त्रिवर्ग का विस्तृत विवेचन हुआ। वात्सायन ने पुरुषार्थों (त्रिवर्ग) को आश्रम व्यवस्था से भी जोड़ दिया। उसने तीनों पुरुषार्थों को क्रमशः अंतिम तीनों आश्रमों– गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास से संबद्ध किया।

अंततः यह मानना होगा कि यद्यपि 'त्रिवर्ग' व्यवस्था राजा तथा उसके कर्तव्यों से गहन रूप से जुड़ी हुई थी, तथापि धर्मसूत्रों, कामसूत्र तथा महाभारत के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि इस अवधारणा का विस्तार कहीं अधिक व्यापक था तथा इसकी परिधि मे सभी व्यक्तियों (महिलाओं समेत) के क्रिया–कलाप व गतिविधियाँ निहित थीं।

3.6 बोध प्रश्न

1-प्राचीन भारत में राज्य निर्माण के प्रमुख घटक बताइये।

2-त्रिवर्ग से आप क्या समझते हैं?

3-प्राचीन भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं?

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।
5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।
7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 भौतिक संस्कृति व आरम्भिक राजनैतिक संगठन

4.4 कृषि की उत्पत्ति एवं राजसत्ता

4.5 पशुपालन, कृषि तथा सामाजिक व राजनीतिक संगठन

4.6 उत्तरवैदिक काल का संक्रमण तथा 'गोपति' से 'भूपति' में रूपांतरण

4.7 कामन्दक का नीतिसार तथा राजसत्ता

4.8 विदेशी विवरण तथा राजसंस्था

4.9 सारांश

4.10 बोध प्रश्न

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में राजनैतिक सत्ता के उदय के संदर्भ में साधारणतया नगरीकरण, जटिल व्यापार, वाणिज्य विनिमय आधारित सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था को उत्तरदायी मानना सर्वथा अनुचित ही है। विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं की तरह ही प्राचीन भारत में भी राजनीतिक सत्ता के उदय के केन्द्र में पशुचारी, कृषि आधारित तथा ग्राम्य जीवन था। नगरों का उदय तथा विनिमय आश्रित अर्थव्यवस्था राजनीति सत्ता के उद्‌गम का कारक न हो के उसकी परिणति ही थी। चरागाहों पर आश्रित चरवाहों एवं पशुचारी से लेकर पशुपालक एवं कृषक तक हर स्तर पर इन गतिविधियों में संलिप्त मानव को अपनी सुरक्षा, जीवनयापन तथा सुख–समृद्धि के लिये कुशल नेतृत्व तथा मार्गदर्शन की आवश्यकता महसूस हुई। घुमन्तु जीवन से स्थायी जीवन के रूपांतर में मानव में सामुदायिक जीवन, कृषि से जीविकोपार्जन तथा ग्रामों की उत्पत्ति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न उपलब्ध स्रोतों के आधार पर कृषि जीवन के उद्‌गम तथा ग्राम्य जीवन के उदय की पृष्ठभूमि में प्राचीन भारत में राजनीतिक सत्ता की स्थापना को जानने तथा समझने का प्रयास किया गया है।

4.2 उद्देश्य

यह इकाई प्राचीन भारत में कृषि तथ ग्रामों की स्थापना तथा विकास के परिप्रेक्ष्य में उदित राजनैतिक सत्ता से सम्बन्धित है। उपलब्ध स्वदेशी तथा विदेशी स्रोतों व साक्ष्यों के आधार पर भारत में राजनीतिक सत्ता की उत्पत्ति के कारकों के रूप में गावों में कृषि पर आश्रित सामुदायिक जीवन का आंकलन तथा व्याख्या करना इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- प्राचीन भारत में सभ्यता के आरम्भिक काल में चरागाह तथा पशुचारी जीवन से जोकि यायावरी पर आधारित था, कृषि आश्रित स्थायी ग्रामीण जीवन के रूपांतर के बारे में अवगत हो पायेंगे।
- प्राचीन भारत में जनजातियों के सामाजिक–आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के उदय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- प्राचीन भारत में कृषि तथा गाँवों से जनित सामुदायिक–राजनैतिक संगठनों की उत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- जनजातीय एवं ग्रामीण राजव्यवस्थाओं तथा राजनीतिक संगठनों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राचीन भारत में देहाती तथा कृषक जीवन के क्रमिक विकास तथा उनकी राजनीतिक भागीदारी का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

4.3 भौतिक संस्कृति व आरम्भिक राजनैतिक संगठन

यद्यपि राज्य की उत्पत्ति तथा उसके प्रकारों की विस्तृत व्याख्या इकाई 5 में की जाएगी तथापि प्रस्तुत इकाई अपनी विषयवस्तु से पूर्ण न्याय केवल उसी स्थिति में कर सकती है जब वह भौतिक संस्कृति के विकास तथा उसके सामाजिक जीवन व संगठन पर प्रभाव के माध्यम से प्राचीन भारत में राजनीतिक सत्ता के उदय पर प्रकाश डाल सकें।

प्राचीन भारत में राजनीति सत्ता तथा राज्य उदय के अध्ययन में साधारण तथा बौद्ध स्रोतों में संदर्भित प्राकृतिक राज्य (State of Nature) का साक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है। हालांकि आगे चलकर समसामयिक इतिहासकारों ने इस परिप्रेक्ष्य में पुराणों, महाभारत तथा जैन स्रोतों का भी महत्व समझा है। इन सभी स्रोतों का समग्रता में अध्ययन हमें न केवल प्रारम्भिक प्रकृति के राज्य की अवधारणा से परिचित कराता है बल्कि हमें उन परिस्थितियों से भी अवगत कराता है जिनमें 'राज्य' की उत्पत्ति हुई।

भारत जैसी विविधतापूर्ण सभ्यता में जहाँ विभिन्न संस्कृतियों का समावेश हुआ, यह संभव ही नहीं कि पूरे राष्ट्र में आर्थिक विकास की गति तथा राज्य की परिकल्पना एक जैसी हो। फिर भी किसी विस्तृत परिदृश्य के अभाव में भी प्राकृतिक सत्ता अथवा सुसंस्कृति के पूर्वकाल के चार मूल गुण अथवा तत्व स्पष्ट हैं।

प्रथम, प्रारम्भिक अवस्था में जीवन कंदमूल, फल पर ही आश्रित था। इसी कारण ब्राह्मण तथा जैसे ग्रंथों में कल्पवृक्ष को साधारणतया जीवनयापन का मुख्य स्रोत माना गया। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य भी वनलता तथा भूमि परपठक (एक प्रकार की जड़) को ही मानव का आरंभिक जीवनदायी स्रोत मानती है। इस प्रकार कृतकाल में (जैसा कि पुराणों तथा महाकाव्यों में इंगित है) मानव भोजन उत्पादक न होकर भोजन इकट्ठा करने वाला था। इस तथ्य का

अनुमोदन पुरातत्व तथा मानव विज्ञान करता है तथा इसी काल को पुरापाषाण काल कहा गया। यह वह काल था जब मानव बर्बर व असंगठित था तथा व्यक्तिगत संपत्ति की धारणा उसमें जागृत नहीं हुई थी।

द्वितीय, प्राकृतिक सत्ता काल में एक परंपरा के रूप में एकपत्नीक संस्था जिसमें पति सर्वेसर्वा हो का कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता। वास्तव में विवाह का एक स्थायी संस्था के रूप में विकास भी कदाचित इसके पश्चात् ही हुआ।

तृतीय, पुराणों तथा बौद्ध ग्रंथों से स्पष्ट है कि इस काल में समाज का वर्णों अथवा वर्गों में विभाजन नहीं हुआ था।

चतुर्थ, यह स्पष्ट कहा गया है कि इस काल में एक संस्था के रूप में राज्य विद्यमान नहीं था। कौटिल्य भी लिखता है कि कुछ भू–भागों में 'वैराज्य' था अर्थात् वहाँ राजा का कोई पद नहीं था तथा जनता में 'तेरा–मेरा' की भावना नहीं थी।

इस प्रकार यह सत्यापित होता है कि आरंभिक काल में भारत में संस्थाओं के रूप में संपत्ति, परिवारा तथा वर्ग (जाति) का नितांत अभाव था, क्योंकि इन तीनों ही संस्थाओं का विद्यमान होना सीधे तौर पर 'राज्य' तथा 'राजसत्ता' की उत्पत्ति का द्योतक है, इसलिए यह प्रामाणिकता के साथ कहा जा सकता है कि इनके अभाव में प्राचीन भारत में राज्य का उदय भी इस काल में नहीं हुआ था। परिणामवश, इस काल के मानव को सभ्य व सुसंस्कृत तो नहीं कहा जा सकता पर यह मानना होगा कि लोग इस समय बेपरवाह, लोभमुक्त एवं सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे।

4.4 कृषि की उत्पत्ति एवं राजसत्ता

परन्तु इस सामंजस्य तथा तारतम्यपूर्ण जीवन का विनाश कृषि के उदय के साथ हो गया। प्राचीन विश्व के समान ही प्राचीन भारत में भी कृषि का आरम्भ नवपाषाण काल में ही माना गया है। परन्तु शुरूआत में मानव कृषि के माध्यम से केवल उतना ही उपजा पाता था जितना उसके निर्वहन अथवा उपभोग के लिये आवश्यक था। लेकिन यह भी सत्य है कि कृषि के उदय के साथ ही मानव के व्यक्तिगत जीवन में भी आमूल–चूल परिवर्तन हुए। अब वह यायावरी अथवा घुमन्तु जीवन का परित्याग कर एक ही स्थान पर स्थायी रूप से निवास करने लगा। कृषि के उदय के कारण यह अनिवार्य हो गया। इसके साथ ही मानव के सामुदायिक

जीवन में भी परिवर्तन हुए क्योंकि एकाधिक मनुष्यों के एक ही स्थान पर निकट रहने के कारण उनकी कृषि योग्य भूमि के समीप ग्रामों अथवा गाँवों का भी निर्माण व विकास हुआ।

4.5 पशुपालन, कृषि तथा सामाजिक व राजनीतिक संगठन

कृषि के उदय से अवश्य ही मानव के व्यक्तिगत तथा सामुदायिक जीवन में परिवर्तन आये किन्तु शुरूआती तौर पर कृषि मात्र गौण व्यवसाय ही रहा तथा जीवन यापन के लिये मुख्य रूप से मनुष्य पशुपालन पर ही आश्रित था। ऋग्वैदिक काल में लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि न होकर पशुपालन ही था तथा ग्रामीण परिवेश के विकास के बावजूद सामाजिक जीवन मूलतः जनजातीय था। जहाँ प्रारम्भिक चरण में मानव समूह बनाकर शिकार तथा भोजन इकट्ठा करके ही अपना जीवन चलाता था द्वितीय चरण में जब वह प्रमुख रूप से पशुपालक हो गया तो वह सामूहिक, सामुदायिक व सामाजिक रूप से सगोत्रता, रक्त सम्बन्ध की नातेदारी में बंध गया। अतएव इस द्वितीय चरण में जनजाति तथा सगोत्र नातेदारी पर आश्रित जनजातीय संबंध ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गये। जनजातीय विकास का एक महत्वूपर्ण परिणाम जनजातीय सरदारों के उदय में परिलक्षित होता है। इस समय में लोगों की स्वामी भक्ति अपनी जनजाति तथा उसके नेता अथवा सरदार के साथ होती थी। हम पाते हैं कि ऋग्वैदिक काल में विभिन्न जनजातीय समूह वर्चस्व के लिए पारस्परिक द्वंद अथवा युद्धों में संलिप्त थे। जनजातीय नेता को ही 'राजा' कहा जाता था। अधिकांश युद्ध मवेशी–गाय (गौशु) अथवा जल–नदी, सरदार, ताल (अपशु) के लिये ही होते थे। इस काल में पशुओं का क्या महत्व था यह इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के प्रधान पशु गौ (गाय) के ही संदर्भ में पारिवारिक, आर्थिक व राजनैतिक जीवन के प्रमुख सोपानों व आयामों की व्याख्या हुई है। युद्धों को गविष्टि अथवा गवेष्णा (गायों की गिनती) कहा गया जबकि अतिथि को गौहन्ता (गाय का वधिक) व पुत्री को दौहित्री (गाय को दोहन करने वाली) पुकारा गया। परिवार अथवा परिवारों के मुखिया (जिनका जीवन पशुपालन पर आधारित था) को गोपति कहा गया। यहाँ से यह स्पष्ट है कि अधिक पशुओं का स्वामित्व, साामजिक, आर्थिक व राजनीतिक वर्चस्व का परिचायक बन गया।

4.6 उत्तरवैदिक काल का संक्रमण तथा 'गोपति' से 'भूपति' में रूपांतरण

उत्तरवैदिक काल में लोगों का मुख्य व्सवसाय कृषि हो गया तथा पशुपालन गौण हुआ। कृषि के विस्तार तथा विकास के साथ ही कृषकों ने उपभोग के लिए अनिवार्य से अधिक उत्पादन करना संभव बनाया। इसी के साथ 'आधिक्य' को संग्रहीत करने अथवा उसका भंडारण करने की प्रवृत्ति बलवती हुई तथा शक्तिशाली अथवा सामर्थ्यवान लोगों ने बल या हिंसा के माध्यम से नदियों, खलिहानों, पहाड़ियों, वृक्षों, पौधों इत्यादि पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया। इतिहास में प्रथम बार लोगों ने पृथक आवास स्थानों का निर्माण किया जिसके लिए कानूनी वैधता की आवश्यकता थी। खेत तथा खलिहानों का विभाजन हुआ तथा उनकी सीमायें निर्धारित हुई। सामुदायिक जीवन तथा व्यक्तिगत संपत्ति के भेद और लोभ से उत्पन्न पारस्परिक संघर्षों के कारण सुरक्षा तथा व्यवस्था के लिए किसी प्रकार की राजसत्ता की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इसी के परिणामस्वरूप खेतों की सुरक्षा हेतु एक विशेष पद 'महाखत्तीय' का सृजन हुआ।

व्यक्तिगत संपत्ति के साथ ही परिवार के उदय की भी राजसत्ता की उत्पत्ति में भूमिका को विशेषतया बौद्ध स्रोतों ने स्वीकार किया है। इनके अनुसार वैवाहिक जीवन के निर्वहन के लिये गृहों का निर्माण हुआ। प्रत्येक परिवार के लिये एक घर (झोपड़ी) बनाई गई। इन गृहों को मान्यता भी राज्य द्वारा प्रदान हुई।

इसी प्रकार जब सभी लोगों को जीवन यापन के साधन उपलब्ध करा दिये गए तब उन्हें चार वर्णों में विभाजित कर दिया गया। चारों वर्णों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के कार्य क्षेत्रों को निर्धारित किया गया। अनाचार, अराजकता तथा वर्ण विशेष के लिए प्रतिपादित कार्यों का निर्वहन न करने की अवस्था में दण्ड का प्रावधान किया गया तथा इसके प्रतिपादन हेतु क्षत्रिय राजा का उदय हुआ। अपने को प्रदान हुई सुरक्षा के बदले में लोगों ने राजा को अपनी सम्पत्ति का हिस्सा कर के रूप में देना स्वीकार किया। इस प्रकार, ऋग्वैदिक काल का '**बलि**' जो स्वैछिक कर था कालान्तर में उत्तरवैदिक काल में अनिवार्य **भाग** के रूप में जाना गया। इस प्रकार एक संस्था के रूप में राजा का पद महत्वपूर्ण हुआ। उसका संबंध अब अपने राज्य, उसकी जनता तथा राज्य के संसाधनों से स्थायी हो गया। साथ ही राजा अब वर्णआश्रमधर्म का संरक्षक बन गया। राजा का एक पद के रूप में सृजन, दण्ड का विधान वर्णव्यवस्था के

संरक्षण तथा जन की सुरक्षा के लिये अपरिहार्य हो गया। अतएव राजा तथा राज्य के उत्तरदायित्वों को बहुत अधिक महत्व मिला। उसका सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सभी प्रकार के अपराधों का निदान करना माना गया। मनुस्मृति में अट्ठारह ऐसे अपराधों का उल्लेख किया जिन पर राजा की पैनी दृष्टि सदैव होनी चाहिए। ज्ञातत्व हो कि इन अपराधों में से दस सम्पत्ति से संबंधित थे तथा दो परिवार से। इसी प्रकार कात्यायन स्मृति में भी ऐसे दस अपराधों का वर्णन है जिनका निराकरण राजा को करना चाहिए। इनमें से पाँच संपत्ति से संबंधित थे तथा एक परिवार से। यदि वर्ण व्यवस्था के संरक्षण को छोड़ दें तो प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में भी कमोबेश राजा के उत्तरदायित्व ब्राह्मण ग्रंथों के समान ही थे। इसी कारण ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रन्थों में राजा को धर्म का ध्वजवाहक व संरक्षक कहा गया। धर्मसूत्रों तथा महाभारत के शांतिपर्व में राजा को इसी रूप में प्रदर्शित करा गया है।

छठीं शताब्दी ई0पू0 में उत्तर भारत में उदित राजनीतिक इकाईयों की प्रकृति की बात की जाए तो चाहे वह राजतान्त्रिक व्यवस्था हो, कुलीनतंत्रीय राज्य हो अथवा जनजातीय संघ हों, सभी की आरंभिक पृष्ठभूमि, उत्तरवैदिक काल (ई0पू0 1000–600) में ही निहीत है। जहाँ कुछ समुदायों ने अपनी आदिवासी अथवा जनजातीय प्रकृति बनाए रखी वहाँ दूसरों ने रूपांतरिक होकर अपने को राज्य के रूप में परिवर्तित करने का मार्ग अपनाया। जनजातियों के परस्पर समिश्रण अथवा विलय से भी बड़े राज्यों अथवा महाजनपदों की उत्पत्ति हुई। पुरू तथा भरतों ने मिलकर कुरू राज्य का निर्माण किया, वहीं तुरवषा तथा कृवियों ने मिलकर शक्तिशाली पाँचाल महाजनपद बनाया। उत्तर वैदिक काल में वंशावली पर आधारित जनजातीय राज्य का क्षेत्रीय राज्यों में रूपांतरण हो गया। विट्जल के अनुसार, कुरू महाजनपद इस प्रकार का प्रथम क्षेत्रीय राज्य था।

इस प्रकार हम पाते हैं कि क्षेत्रीय राज्यों के उदय में बहुत सी जटिल राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं का योगदान था। राजनीतिक सत्ता के विकास में अनेकानेक संघर्षों व समन्वयवादी प्रक्रियाओं की भूमिका थी। विशेष रूप से राजतान्त्रिक व्यवस्था में राजा का वर्चस्व प्रतिद्वंदियों के विनाश, अवपीड़क व बल केन्द्रित तन्त्रों की स्थापना तथा उत्पादन के संसाधनों पर पर पूर्ण नियंत्रण पर आश्रित था। जहाँ कुलीनतंत्रीय अथवा जनतंत्रीय व्यवस्था थी वहाँ राजा के स्थान पर जनजातीय समितियों अथवा संघों ने यह कार्य किया।

राजा ब्राह्मणों का संरक्षक बना। उत्तरवैदिक काल में वंशानुगत राजतंत्र का विकास हुआ। शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मणों में दश–पुरूषम राज्यम का वर्णन है। उत्तरवैदिक धार्मिक अनुष्ठानों व क्रियाओं में राजा के वर्चस्व पर बल दिया गया जिनके माध्यम से उसकी श्रेष्ठता उसके परिजनों तथा लोगों पर साबित हो सके। साम्राज्य तथा सम्राट जैसे शब्द राजनीतिक महत्वाकांक्षा के परिचायक हैं। राजतंत्र की उत्पत्ति के साथ ही उसे वैधता प्रदान करने के लिए एक विचारधारा के सृजन का भी प्रयास हुआ। यथा ऐतरेय ब्राह्मण में यह विचार रखा गया कि देवासुर संग्राम में देवों की पराजय के पश्चात् देवों को यह महसूस हुआ कि उसकी पराजय का कारण राजा का न होना था। इस कारणवश उन्होंने राजा का चुनाव किया। उत्तरवैदिक कालीन ग्रंथों में राजाओं तथा देवों में निकट संबंध स्थापित करने का प्रयास किया गया। शतपथ ब्राह्मण मे बतालाया गया कि वाजपेय तथा राजसूय यज्ञों के माध्यम से राजा प्रजापति के समान शक्ति प्राप्त करता है। यद्यपि यहाँ यह समझने कि आवश्यकता है कि इन अनुष्ठानों के माध्यम से राजा के पद के वर्चस्व पर ही बल दिया गया उसके देवत्व पर नहीं।

राजा का अपने राज्य तथा उसके जनों द्वारा अर्जित संसाधनों पर नियंत्रण हो गया। इसी कारण समकालीन ब्राह्मण ग्रंथों में राजा को विश्वमत्त (विश्व अर्थात् लोगों का भाजन करने वाला) कहा गया। इससे यह तात्पर्य है कि राजा अपने जीवनयापन के लिये जनता के सृजित उत्पादों एवं संसाधनों का स्वैधिक रूप से उपभोग करता था। यद्यपि 'सभा' तथा समिति के रूप में जनप्रतिनिधि संस्थायें इस काल में भी विद्यमान थी, तथापि राजा के बढ़ते प्रभुत्व व वर्चस्व के आलोक में इन संस्थाओं का प्रभाव कम होता चला गया। जिस प्रकार घरेलू क्षेत्र में गृहपति का घर में होने वाले यज्ञों व अनुष्ठानों के माध्यम से परिवार के उत्पादक संसाधनों पर पूर्ण वैधानिक नियंत्रण हो गया उसी प्रकार राजकीय श्रोत्र यज्ञों व अनुष्ठानों के माध्यम से राजा का स्वामित्व व नियंत्रण राज्य के सभी उत्पादन संसाधनों पर पूर्ण रूप से हुआ।

4.7 कामन्दक का नीतिसार तथा राजसत्ता

कामन्दक अथवा कामन्दकीय या कामन्दीय कृत नीतिसार काव्य रूप में राजधर्म पर लिखे गए प्रारंभिक ग्रन्थों में से एक है। यद्यपि नीतिसार के सृजन के समय को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है तथा कुछ का कहना है कि यह प्राचीन भारत के शुरूआती ब्राह्मण ग्रन्थों में से एक है तथा राजधर्म व राजनीतिक सत्ता पर लिखा पहला ग्रन्थ है तथापि

अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि यह ग्रन्थ कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पूरी तरह प्रभावित है तथा इसका वर्तमान स्वरूप गुप्तकाल में ही सामने आया तो भी राजशास्त्र के प्रणेताओं में कामन्दक का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

अर्थशास्त्र की ही तरह नीतिसार भी कुशल प्रशासन तथा प्रभुतासंपन्न राजव्यवस्था के लिए सप्तांग विचारधारा तथा मण्डल व्यवस्था का अनुमोदन तथा समर्थन करना है। कौटिल्य की भांति ही कामन्दक भी सभी वर्णों के स्वधर्म पर बल देता है। वह यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि राजसत्ता का एक संस्था के रूप में उदय सभी वर्णों के लोगों को अपने–अपने धर्म का पालन करवाने के लिये ही हुआ। साथ ही राज्य संस्था का एक प्रमुख उत्तरदायित्व यह था कि वह सबको अपने स्वधर्म में स्थिर रखे। कामन्दक का मानना था कि स्वधर्म के अतिक्रमण की स्थिति में अव्यवस्था उत्पन्न होगी तथा लोक (समाज) नष्ट हो जाएगा। संस्कृत में लिखित यह ग्रन्थ 20 सर्गों व 36 प्रकरणों में विभाजित है। इनमें से प्रथम व द्वितीय सर्गों में राज्य की उत्पत्ति, इसके कारक, राजनीतिक संस्था की विचारधारा, राजा के पद का महत्व व उसकी प्रतिष्ठा तथा राजा व प्रजा के उत्तरदायित्वों का विवेचन हुआ है।

कामन्दक के अनुसार, राजा, समाज व संसार के संरक्षण हेतु चार विद्याओं (ज्ञान शाखाओं) का अस्तित्व आवश्यक है– यह चार विद्यायें हैं– अनविक्षकी (दर्शन/विचारधारा), त्रयी (तीन वेदों का ज्ञान), वार्ता (अर्थशास्त्र, कृषि, पशुपालन तथा व्यापार–वाणिज्य) तथा दण्डनीति (राजनीति विज्ञान)। इन चारों में से अंततोगत्वा नीतिसार दण्डनीति को ही सर्वोपरि मानती है क्योंकि उसके अभाव में शेष तीनों शाखाओं का होना व्यर्थ है। परन्तु नीतिसार में प्रतिपादित राजसंस्था की विचारधारा दार्शनिकता तथा नैतिकता पर आधारित है।

राजा नीतिसार में वर्णित राजसंस्था का प्रधान तत्व था। राजा भू–स्वामी था, वह जन स्वामी था (नरपति) क्योंकि नीतिसार का सृजन महान गुप्तशासक समुद्रगुप्त द्वारा विद्यमान कुलीनतन्त्रों अथवा जन संघों या गणों के विनाश के पश्चात् हुआ था इसलिए राजातांत्रिक व्यवस्था ही कामन्दक के अनुसार एकमात्र राजनीतिक संस्था थी। राजा सार्वभौम व सर्वशक्तिमान था तथा यह विजीगिषु राजा महत्वाकांक्षी था। वह अपनी प्रजा पर पूर्ण नियंत्रण रखता था तथा उन्हें कर देने को बाध्य करता था। इसके बदले वह प्रजा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व वहन करता था। कामन्दक का राजत्व सिद्धान्त तथा राज संस्था की परिकल्पना वेदों, महकाव्य–पुराण परिपाटियों व अर्थशास्त्र पर आधारित थी। नीतिसार राजा की तुलना

प्रकृति के तत्वों तथा देवों से करता है। नीतिसार राजता (राजसंस्था) तथा राजा तथा उसकी प्रजा की समृद्धि के मध्य घनिष्ठ संबंध की बात करता है। साथ ही कामन्दक राजा के शक्तिशाली होने के लिये उसके वनों व कृषि योग्य भूमि तथा उससे जनित संसाधनों के पूर्ण नियंत्रण व स्वामित्व पर बहुत बल देता है।

4.8 विदेशी विवरण तथा राजसंस्था

प्राचीन भारत में राजनीतिक सत्ता के उदय को लेकर स्वदेशी विवरणों के अतिरिक्त विदेशी लिखित स्रोत भी प्राप्त होते हैं। इनमें विशेष रूप से यूनानी इतिहासकार जोकि अधिकांशतया सिकंदर के भारत पर आक्रमणों के बारे में लिखते हैं उनसे हमें भारतीय राजतंत्र, राजा की सत्ता, राजनैतिक सिद्धान्त, गणसंघों, राजनीति विज्ञान, प्रशासनिक संगठन, नगर व ग्रामीण प्रशासन, कर प्रबंधन, नगर–राज्यों आदि के बारे में महत्वपूर्ण जानकारियों प्राप्त होती हैं। मेगस्थनीज (जोकि चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में सिकंदर के उत्तराधिकारी सेल्यूकस निकेटर का राजदूत था) द्वारा रचित इंडिका, यद्यपि यह मूल रूप से विलुप्त हो चुकी है, मौर्यकालीन राजनीतिक सत्ता तथा संस्थाओं को जानने का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। अर्थशास्त्र की तरह ही इंडिका भी राजकीय व शाही समारोह, धार्मिक अनुष्ठानों तथा राजा की सुरक्षा हेतु महिला अंगरक्षकों की नियुक्ति पर अत्यधिक बल देता है। अर्थशास्त्र में वर्णित सेतुबन्ध व्यवस्था के समान ही मेगस्थनीज के वृतान्त में भी सिंचाई के लिए नहरों के निर्माण का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में उल्लेखित गुप्तचर को इंडिका में आवेरसियर के नाम से जाना गया। मेगस्थनीज के काल में भूमिमाप अधिकारी, बाजार नियंत्रक, नगर नियंत्रक, शिल्प व कला अधिकारियों का वर्णन है। यह अधिकारी अर्थशास्त्र के अध्यक्षों के समान ही कार्य करते थे। इन सब के वर्णन तथा इंडिका में वर्णित राजधानी की स्थिति, प्रान्तीय व नगर प्रशासन की कमेटियाँ आदि यह स्पष्ट करते हैं कि समसामयिक राजसत्ता तथा प्रशासनिक प्रणाली बहुत विकसित थी। इंडिका के संदर्भ देने वाली कुछ यूनानी कृतियों जिनके लेखक ग्रीक थे जैसे कि स्ट्रेबों, जस्टिन, एरियान, डायोडोरस, प्लूटार्क, फिलार्कस उन सभी ने भी मौर्योत्तर काल में उदित व विकसित राज संस्थओं व राजनीति सत्ता व विस्तार से वर्णन किया है। कालान्तर में कुछ चीनी यात्रियों जिनमें फाह्यान, युवान च्वांग, इत्सिंग, मात्वालिन, चाऊ जू कुआ, व्ही ली आदि ने भी प्राचीन व पूर्व मध्यकालीन भारत में उपज़ी शासन पद्धतियों, प्रणालियों व विचारधाराओं की व्याख्या की है। जहाँ फाह्यान ने अपने ग्रन्थ फो–को–की में गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल की राजनैतिक स्थिति का उल्लेख किया है, वहीं युवान च्वांग ने

पुष्यभूति शासक हर्षवर्धन के समय की राजनैतिक प्रणालियों का विवरण दिया है। इनके अतिरिक्त सुलेमान तथा अर्ब्दुरज्ज़ाक जैसे कुछ मुस्लिम लेखकों ने भी हर्ष के बाद के भारत की राजनैतिक स्थिति पर प्रकाश डाला है।

4.9 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हम जानते हैं कि किस प्रकार जनजातीय, पशुचारी जीवन जो अस्थायी व घुमन्तु था, उससे निकालकर कृषि व ग्राम्य जीवन पर आधारित स्थायी जीवन का प्राचीन भारत में उदय हुआ। साथ ही कृषि पर आश्रित जीवन से ग्रामीण व्यवस्थाओं व संस्थाओं की उत्पत्ति हुई और अराजकता को समाप्त करने, कानून व व्यवस्था को स्थापित करने, लोगों को व्यक्तिगत तथा सामुदायिक सुरक्षा प्रदान करने, निजी संपत्ति के संरक्षण तथा तकनीकि विकास से आए परिवर्तन (विशेष रूप से लोहे के औज़ारों के प्रयोग से कृषि में हुए रूपांतर तथा आधिक्य) के उचित प्रयोग हेतु राजनीतिक सत्ता तथा राज संस्थाओं का उदय व विकास हुआ। कालान्तर में जनता या प्रजा के हित के लिये इन राजसत्ताओं ने कार्य किया तथा समाज में सुरक्षा व समन्वय स्थापित किया।

4.10 बोध प्रश्न

1-भारत में कृषि की उत्पत्ति बताइये।

2-भारत में गोपति से भूपति की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

3-कामन्दक के नीतिसार के बारे में आप क्या जानते हैं?

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।

5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।
7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई 5 राज्य की उत्पत्ति और प्रकार,राज्य के घटक तत्व,उनकी जैविक प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 राज्य की उत्पत्ति

5.3 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

- 5.3.1 विकास सिद्धान्त
- 5.3.2 अराजकता, मत्स्यन्याय तथा समयवाद का सिद्धान्त
- 5.3.3 राज्य का दैवी अधिकार सिद्धान्त
- 5.3.4 युद्ध मूलक सिद्धान्त
- 5.3.5 पितृतंत्रात्मक संयुक्त परिवार मुखिया का सिद्धान्त

5.4 राज्य के प्रकार

5.5 राज्य के घटक तत्व एवं उनकी जैविक प्रकृति

5.6 सारांश

5.7 बोध प्रश्न

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 प्रस्तावना

आधुनिक समय में राजनीति पर लिखे गए ग्रंथ, राज्य की उत्पत्ति से संबंधित प्रश्नों को बहुत महत्व देते हैं। दुर्भाग्यवश प्राचीन समय में इन विषयों को विशिष्टता अथवा प्रमुखता से प्रस्तुत करने का अभाव ही रहा। यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्य संस्था के प्रादुर्भाव के कारणों का अनेक स्थानों पर विशद रूप से निरूपण किया गया है तथापि यह कहना भी पूर्णतया असत्य न होगा कि मनुष्यों ने किन परिस्थितियों में अपने को सर्वप्रथम राजनैतिक रूप से संगठित किया इसको जानने के एकमात्र स्रोत मूलतः दंतकथाओं तथा पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं। इस संदर्भ में यह इंगित करना भी अनिवार्य है कि आधुनिक समय की तार्किकता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राचीन मानव में नहीं था तथा साथ ही साधारणतया पूरे विश्व में तथा विशेष रूप से प्राचीन भारत में बहुधा अधिकांश संस्थाओं जिसमें राज्य संस्था भी सम्मिलित है कि उत्पत्ति एवं विकास का आधार अलौकिक अथवा दिव्य प्रेरणा ही थी। इन परिस्थितियों में विद्यमान साक्ष्यों तथा स्रोतों के वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक परीक्षण एवं चिंतन के आधार पर ही प्रस्तुत विषय को समझने का प्रयास होना चाहिए।

5.1 उद्देश्य

यह इकाई प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति, प्रकार, तथा उसकी जैविक प्रकृति से सम्बद्ध है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप –

- भारत में राज्य की उत्पत्ति के बारे में जान सकेंगे।
- राज्य की उत्पत्ति के प्रमुख कारणों को जान पायेंगे।
- संस्था के रूप में राज्य के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कर सकेंगे तथा उनमें अंतर बता पायेंगे।
- राज्य के घटक तत्वों एवं उनकी प्रकृति को जानकर उनकी कार्य सीमा तथा पारस्परिक संबंधों की विवेचना कर पायेंगे।

5.2 राज्य की उत्पत्ति

प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति के कारणों को लेकर कोई एक निश्चित विचारधारा नहीं है। कुछ प्राप्य साक्ष्यों के आधार पर राज्य की उत्पत्ति के कारणों के संदर्भ में अनुमान ही लगाया जा सकता है। यद्यपि महाभारत तथा दीर्घनिकाय पृथक कालखण्ड एवं धर्मों से संबंध रखती हैं तथापि राज्योत्पत्ति के संदर्भ में दोनों के दृष्टिकोण में समानता मिलती है। दोनों के ही अनुसार समाज की संरचना के बहुत समय पश्चात् तक समन्वय सुख एवं शांति का एक सवर्णिम काल विद्यमान रहा जहां किसी राजसत्ता के न होने पर भी लोग अपनी नैसर्गिक अच्छाईयों के कारण शांतिपूर्ण एवं सुखमय जीवन व्यतीत कर पाए। यहाँ यह जानना रोचक होगा कि 'राज्योत्पत्ति पूर्व स्वर्णिम काल' की परिकल्पना केवल प्राचीन भारत में ही नहीं हुई अपितु पश्चिमी जगत में भी प्लेटो, रूसो इत्यादि के लेखन में भी यह विद्यमान रही।

हालांकि एक समानता जो इस विषय पर पूरब तथा पश्चिम दोनों में ही है वह थी इस स्वर्णिम काल के पश्चात् की अराजकता जो मानव के निहित स्वार्थ, कर्तव्य विमुखता तथा लालच से उत्पन्न हुई। इस कारणवश 'मत्स्यन्याय का सिद्धान्त' (जंगल का कानून) जिसमें कि शक्तिशाली अपने से निर्बल का भक्षण करता था अथवा समाप्त कर देता था प्रचलित हुआ। इस परिस्थिति जनित राजनैतिक सामाजिक समस्या के समाधान हेतु सुझाए गए सिद्धान्तों, तरीकों अथवा विधियों को लेकर ही विभिन्न लेखकों, इतिहासकारों एवं शोधार्थियों में मतान्तर है। यह मतभेद केवल प्राचीन भारत में विद्यमान धर्म आधपारित भिन्नता पर ही आधारित नहीं है अपितु एक ही धर्म से संबंधित ग्रंथों में भी परस्पर विभेद तथा विरोधाभास पाया जाता है। अतएव जहाँ बौद्ध धर्म ग्रन्थ दीघनिकाय कुछ संबंधित हिन्दू धर्मग्रन्थों की भांति प्रारंभिक स्वर्णकाल तथा उसके बाद ही अराजकता को स्वीकार करता है, वह हिन्दू स्रोतों के विपरीत इस समस्या के अंत के लिए ब्रह्मदेव द्वारा रचित प्रथम राजा के अस्तित्व को पूर्ण रूप से इसलिए नकार देता है क्योंकि बौद्ध धर्म में ईश्वर तथा राज्य के दैवी सिद्धान्त की अवधारणा ही नहीं है। दूसरी ओर जैन ग्रंथ आदिपुराण, हिन्दू ग्रन्थ नारद स्मृति (I.1-2) बृहस्पति स्मृति (I.1-16) आदि ईश्वरीय हस्तक्षेप को ही 'राजा' के उत्पत्ति का कारक मानते हैं। जहां शुक्र राजत्व के अर्द्ध दैवीय सिद्धान्त को मानता है वहीं शुक्र तथा 'कौटिल्य' 'स्वर्णिम काल' की अवधारणा को पूर्णतया अस्वीकारते हैं। इसके विपरीत महाभारात के शान्तिपर्व में ब्रह्मदेव द्वारा

अलैंगिक पुत्र विरजस को प्रथम राजा बनाने का उल्लेख है परन्तु शान्तिपर्व विरोधाभासी भी प्रतीत होता है क्योंकि एक अन्य स्थान पर वह ब्रह्मा द्वारा मनु की रचना कर उसे प्रथम राजा बनाए जाने का भी उल्लेख करता है।

कुल मिलाकर यह मानना उचित ही प्रतीत होता है मिथक अथवा कल्पित संदर्भों से इतर, प्राचीन भारतीय विचारकों का यह मानना था कि समाज के अस्तित्व, उसके व्यवस्थित तथा सुचारू एवं विकास के लिए राज्य का होना अपरिहार्य था।

आधुनिक समय के मार्क्सवादी (साम्यवादी) इतिहासकारों का मानना है कि व्यक्तिगत संपत्ति, परिवार तथा वर्ण ने संस्था के रूप में प्राचीन भारत में सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति में प्रमुख भूमिका निभाई है।

5.3 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

5.3.1 विकास सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के संबंध में प्रथम उद्धरण अथर्ववेद में मिलता है। एक सूक्त के अनुसार राज्यसंस्था क्रमिक विकास का परिणाम थी। राज्य के उत्पत्ति के पूर्व भयंकर अराजकता के समय में प्रथम सामाजिक संगठन के रूप में 'परिवार' का उदय हुआ तथा गार्हपत्य संगठन बने। इसके पश्चात् कई परिवारों के स्वामियों ने एक स्थान पर एकत्रित होने का आवाहन किया और आह्वनीय दशा को प्राप्त किया। इन गृहपतियों के मुखिया को वेदों में ग्रामीणी कहा गया। तद्पश्चात् ग्राम में वृहद संगठन दक्षिणाग्नि की संरचना हुई। जिसमें ग्रामीणी अथवा अग्रणी एकत्रत होते थे। इसी से अंततः सभा तथा समिति संस्थाओं का निर्माण हुआ। इस प्रकार राज्य की एक संस्था के रूप में उत्पत्ति क्रमिक विकास का परिणाम थी।

5.3.2 अराजकता, मत्स्यन्याय तथा समयवाद का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार, प्रारंभिक स्वर्णिम काल के पश्चात् जब भयंकर अराजकता व्याप्त थी तब सब ओर जंगल का कानून स्थापित हो गया था, उस अशांति एवं असुरक्षा की परिस्थितियों में लोगों को लगा कि उनकी सुरक्षा तथा समृद्धी के लिए आवश्यक है कि कानून व्यवस्था स्थापित की जाए और स्थापित नियमों का उल्लंघन करने वालों को सजा देने के लिए एक राजा (नेता) के अधीन राज्य व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित हो। महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म इसकी विस्तार से व्याख्या करते हुए कहते हैं जब समाज में दैन्य उत्पन्न

हुआ (उपभोग की वस्तुओं का अभाव हुआ) तब धर्म की हानि हुई और लोभ और अप्राप्य को प्राप्त करने की लालसा के वशीभूत हो मनुष्यों की शुचिता और विवेक समाप्त हो गया। इन परिस्थितियों में त्रस्त जनता ने ब्रह्मा से प्रार्थना कर एक नेता का चुनाव किया तथा उसे प्रशासनिक और दण्डात्मक सत्ता प्रदान की ताकि अव्यवस्था एवं अराजकता को समाप्त किया जा सके। दीघ निकाय स्पष्ट रूप से एक सशक्त, विद्वान तथा गुणवान व्यक्ति महाजनसम्मत (जिसका शाब्दिक अर्थ है वह जो बड़े समुदाय को स्वीकार्य हो) के उदय का उल्लेख करता है तथा बताता है कि जनता के आग्रह पर उसने अराजकता को समाप्त करने के लिए राजा बनना स्वीकार कर लिया। जनता ने इसके बदले अपने धान्य से एक भाग उसकी सेवाओं के लिए उसे देना स्वीकार कर लिया। कौटिल्य भी इस संबंध में कहता है कि लोगों ने स्वयं ही मनु को अपना राजा चुन लिया तथा उसे समुचित कर देना स्वीकारा। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति किसी अंतनिर्हित अनुबंध का परिणाम थी। जब धर्मसूत्र बतलाते हैं कि राजा जनता का सेवक है तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान करने के लिए अपने वेतन के रूप में जनता से 16% कर लेता है तो कदाचित यह ग्रन्थ भी इसी ओर इंगित करते हैं। परन्तु हिन्दू लेखक अनुबंध अथवा समयवाद के सिद्धान्त को इससे अधिक विस्तार देने का प्रयास (जैसा कि पाश्चात्य लेखक करते हैं) नहीं करते। ऐसा इस कारणवश है क्योंकि भारतीय लेखकों को यह पूर्वाभास पहले से ही था कि यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से राज्य तथा समाज की उत्पत्ति की प्रक्रिया की व्याख्या करने में असक्षम है। वर्तमान समय में यह अनुभव किया जा रहा है कि यह सिद्धान्त केवल कुतर्क पर आधारित है क्योंकि न तो यह ये स्पष्ट कर पाता है कि अनुबंध की प्रकृति क्या थी क्या वह राजा और समुदाय की बीच हुआ अथवा समुदाय के ही सदस्यों के बीच आपसी सहमति पर आधारित था, और न ही यह समझा पाता है कि एक ऐसे समुदाय के सदस्य जो अभी प्राकृतिक अवस्था में थे वो किस प्रकार आपस में एक अनुबंध कर सकते थे ? दरअसल यह सिद्धान्त पश्चिम में हॉब्स एवं लॉक के दर्शन से प्रभावित था एवं मूलतः आधुनिक यूरोप का सिद्धान्त है। प्राचीन यूनानी तथा रोमन विचारक इस बारे में चर्चा नहीं करते हैं।

5.3.3 राज्य का दैवी अधिकार सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति एक संस्था के रूप में ईश्वर द्वारा हुई इसका संदर्भ हमें प्राचीन भारतीय ग्रंथों में मिलता है। राजा जिस अधिकार से शासन करता था वह इस सिद्धान्त के अनुसार उसे ईश्वर द्वारा प्रदत्त था। मनुस्मृति के अनुसार, संसार की रक्षा के लिए प्रभु ने ईश्वर की सृष्टि की। ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, वरूण, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, वायु, कुबेर, यम आदि देवताओं से अंश लेकर किया। मनु ने यहाँ स्पष्ट किया है कि यद्यपि देखने में राजा साधारण मनुष्य प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में उसे महान देव समझना चाहिए। मत्स्य पुराण में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है। ऊपर पहले ही बताया जा चुका है कि महाभारत के शांतिपर्व में भी ब्रह्मा द्वारा रचित राजा का उल्लेख है। राज्य का दैवी **सिद्धान्त** मध्ययुगीन यूरोप के इसाई मत तथा इस्लाम में भी पाया जाता है जहाँ राजा को ईश्वर का चयनित प्रतिनिधि माना गया है। जैन ग्रंथ आदिपुराण (जिनसेन कृत) भी बतलाता है कि अराजकता के पश्चात् प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (ऋषभनाथ) ने उस अंधकाल से जनता को सुरक्षित रखने हेतु राजा, अधिकारी, जाति तथा वर्ण का निर्माण किया। यद्यपि शुक्र इस विषय पर कोई स्पष्ट टिप्पणी नहीं करते तथापि वह राजा के अर्द्ध दैवी सिद्धान्त को नकारते भी नहीं है।

मूलतः प्राचीन भारतीय लेखकों एवं विचारकों ने राज्य को एक दिव्य संस्था माना और साथ ही इस विचार का प्रतिपादन किया कि राजा के दैवी सिद्धान्त की उत्पत्ति समाज की उत्पत्ति जितनी ही प्राचीन है और उसका उद्‌भव मानव की सामाजिक राजनैतिक प्रवृत्ति से हुआ है। जनता ने समयवाद अथवा अनुबन्ध के सिद्धान्त को केवल इस सीमा तक स्वीकार किया जहाँ अनुबन्ध राजा तथा प्रजा में न हो कर लोगों में आपस में हुआ जहाँ राजा पर इस कारणवश कोई अतिरिक्त उत्तरदायित्व या भार नहीं आया। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही था कि राजा स्वेच्छाचारी हो जाये और उसे असीमित अधिकार मिल जाये। जैसा कि महाभारत के शान्तिपर्व से हमें ज्ञात होता है राजा के अधिकारों को धर्म एवं ब्रह्मा प्रदत्त विधि द्वारा सीमित किया गया। जनता ने अपनी स्वेच्छा से मनु को अपना राजा चुना और उन्हें आश्वस्त किया कि विधि या कानून का पालन होगा तथा कानून तोड़ने पर दिए गये दण्ड से उत्पन्न पाप का भोगी राजा नही अपितु विधि का उल्लंघन करने वाला अपराधी होगा।

प्रथम राजा विरजस उसके पुत्र कर्दम तथा पौत्र अनंग को इसी धर्म तथा कानून ने सीमित शक्तियाँ या अधिकार दिए। जब अनंग के पुत्र वेण जोकि स्वेच्छाचारी तथा तानाशाह शासक था, ने जनता पर अत्याचार किया तो ऋषियों ने अपने तप के बल से उसे भस्म कर दिया। वेण का पुत्र पृथु जब बहादुर तथा धर्म परायण और कानून को मानने वाला शासक प्रमाणित हुआ तो ऋषियों ने उसे स्वीकारा और उसने भी अपनी इच्छा से धर्मानुसार शासन करने की प्रतिज्ञा ली। अतएव यह देखा जा सकता है कि राजा के दिव्य पुरूष होने पर भी उसके व्यक्तित्व को सर्वोपरि नहीं माना गया। वह धर्म एवं कानून का रक्षक मात्र था, अपने आप में उसके समान नहीं था। राजा की शक्तियाँ तथा अधिकार दिव्य विधान द्वारा सीमित कर दिये गये थे।

5.3.4 युद्ध मूलक सिद्धान्त

यद्यपि राज्य की उत्पत्ति से संबंधित मुख्य सिद्धान्त ऊपर प्रतिपादित कर दिए गए हैं तथापि यह मान लेना कि प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति की अवधारणा केवल इन्हीं सिद्धान्तों तक सीमित थी, सर्वथा त्रुटिपूर्ण होगा। कुछ अन्य सिद्धान्त हमारे समक्ष आते हैं जिनमें से एक युद्ध जनित अपिराहर्यता पर आधारित था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राज्य संस्था तथा राजा की उत्पत्ति युद्ध विवशता थी। देवासुर संग्राम में परास्त होने पर देवताओं ने यह जाना कि उनका कोई राजा न होना ही उनकी असुरों से पराजय का प्रमुख कारण है। इसके परिणामस्वरूप देवों ने अपना एक राजा चुना। इस सिद्धान्त में इस बात पर बल दिया गया है कि युद्ध की आवश्यकताओं के वशीभूत होकर ही संस्था के रूप में राज्य तथा राजा की उत्पत्ति हुई। आधुनिक इतिहासकार तथा लेखक भी राज्य के विकास में युद्धों की अपर्हायता तथा अनिवार्यता को एक महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। प्रारंभिक काल में जब मानव का जीवन शांतिपूर्ण नहीं था उसे अपनी तथा प्राप्त साधनों जैसे कि पशुओं, चरागाहों, खेतों, बस्तियों की सुरक्षा के लिए एक बलवान एवं सशक्त नेता की आवश्यकता थी जो बाह्य आक्रमणों और आंतरिक अराजकता के समय पूरे समुदाय या कबीले की रक्षा कर सके। इस कारणवश युद्धमूलक सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ।

5.3.5 पितृतंत्रात्मक संयुक्त परिवार मुखिया का सिद्धान्त

कुछ आधुनिक इतिहासकारों का यह मानना है कि प्राचीन भारत में जहाँ पितृतंत्रात्मक संयुक्त परिवार विद्यमान थे वहाँ ऐसे परिवारों के अध्यक्ष अथवा मुखिया के पास असीमित और

व्यापक अधिकार थे। यह अधिकार इतने व्यापक थे कि एक मुखिया अपने परिवार के सदस्यों को अपराध करने पर गिरवी रख सकता था, बेच सकता था, अंगभंग कर सकता था तथा मार भी सकता था। वेदों में यह वर्णन मिलता है कि किस प्रकार एक पुत्र के अपराध करने पर उसका पिता जो परिवार का मुखिया है, अपनी इस अवस्था एवं पद के कारण, दण्ड स्वरूप उस पुत्र को बेच सकता था अथवा अंधा करवा सकता था। प्राक् ऐतिहासिक काल में परिवार के मुखिया की स्थिति बहुत कुछ राजा के समान थी। संयुक्त परिवार प्रणाली के विस्तार स्वरूप, ग्राम, गोत्र और प्रवर संस्थाओं का प्रार्दुभाव हुआ। इन्हीं से कालान्तर में विश तथा जन (विशयपति एवं जनपति) की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्राक् ऐतिहासिक काल में एक संस्था के रूप में राज्य एवं राजा की उत्पत्ति, संयुक्त परिवारीय संस्था के द्वारा ही हुई।

इसके अतिरिक्त कुछ आधुनिक इतिहासकारों तथा विचारकों का मानना है कि राजा की उत्पत्ति का मुख्य कारण बौद्धिक है। इस विचारधारा के अनुसार, अराजकता के समय जनता ने अपने नेता के रूप में ऐसे व्यक्ति का चुनाव किया जो या तो पुरोहित हो और उन पर आयी विपदाओं को दिव्य शक्तियों द्वारा नष्ट कर दे अथवा एक चिकित्सक हो जो अपने रोगियों को उचित उपचार से रोगमुक्त कर सके। बौद्धिक स्तर पर विकसित होने के कारण कालान्तर में इन लोगों ने अन्य पर मानसिक एवं बौद्धिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया और एक नेता के रूप में अपने को सत्तागढ़ कर लिया। अपनी सत्ता को कायम रखने के लिए इन्होंने आवश्यकतानुसार शक्ति का भी प्रयोग किया और ये राजा बन बैठे।

5.4 राज्य के प्रकार

प्राचीन भारत में कई प्रकार के राज्य विद्यमान थे परन्तु उनके बारे में हमारी जानकारी सीमित है क्योंकि प्राचीन भारतीय विधि लेखकों ने बहुत कम व्याख्या की है। कदाचित एक शासन पद्धति के रूप में मुख्य रूप से राजतंत्र के स्थापित हो जाने से उनके लेखन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने अधिकांशतः इसी प्रकार के राज्य की व्याख्या की। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय लेखकों ने केवल कभी–कभार ही सरसरी तौर पर संघ अथवा गणतांत्रिक राज्य की ओर इंगित किया है।

गोपति से भूपति बनने की प्रक्रिया में ऋग्वैदिक काल से हमें यदु, पुरू, अणु, तुरवास आदि जनजातियों के बारे में ज्ञात होता है। विश्वामित्र से हमें पता चलता है कि भारत

जनजाति के शासक ने राजसूय यज्ञ करने के पश्चात् राजा की उपाधि ली। परन्तु एक संप्रभु प्रादेशिक राज्य की एक राष्ट्र के रूप में परिकल्पना तो उत्तरवैदिक काल से ही आरम्भ होती है। हमें इसका पहला उद्धरण अथर्ववेद से प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में जिस राजा का वर्णन है वह एक जनजाति का ना होकर एक सार्वभौम शासक है।

वैदिक काल में एक राजतंत्र के शासक के लिए राजा, महाराज, सम्राट शब्दों का प्रयोग हुआ है जो उनकी तुलनात्मक शक्ति का द्योतक है। कुछ सामंतीय शासकों के लिये इस काल में स्वराज तथा भोज शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। क्या यह विभिन्न शब्द विभिन्न प्रकार के राज्यों के प्रतीक थे इसका कोई स्पष्ट संकेत नही है। ऐतरेय ब्राह्मण बतलाता है कि इस काल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य, भुज्य, वैराज्य तथा साम्राज्य जैसे भिन्न प्रकार के राज्य पल्लवित हुए।

सम्भवतः राजतंत्र तथा राजा के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त भिन्न शब्दावली शासक के सर्वशक्तिमान होने की प्रबल इच्छा को ही प्रदर्शित करती थी। पर कुछ संदर्भों में यह कहना भी अनुचित न होगा कि यह राज्य की असल शक्ति और सामर्थ्य का भी प्रतीक थी। स्वराट तथा सम्राट के राज्य के विस्तार का आकलन करना कठिन था परन्तु यह निश्चित है कि वैदिक काल में अधिकांश राज्य छोटे थे। एक सम्राट का साम्राज्य एक साधारण राजा ये अधिक न था पर एक शासक की सैन्य उपलब्धियाँ एवं ख्याति ही उसका पद निर्धारित करती थी।

राज्य एक छोटा किन्तु स्वतंत्र साम्राज्य होता था। ऐतरेय ब्राह्मण के काल में मध्यदेश के राजा तथा पूर्व भातर के सम्राट में कोई भेद नहीं था। वैराज्य एक प्रकार का गणतंत्र था तथा इसमें कोई राजा की उपाधि के साथ शासन नहीं करता था। वैदिक साहित्य में कुछ एक बार राजाओं के साथ मिलकर सभा में सम्मिलित होने का उल्लेख है और हमें यह बताया गया है कि वही व्यक्ति राजा बन सकता है जिसके नाम का अनुमोदन अन्य राजा कर दें। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन प्राचीन भारत में कुलीनतंत्र भी एक प्रकार की शासन व्यवस्था के रूप में विद्यमान था।

द्वैराज्य एक ऐसा राज्य था जहाँ एक ही समय में दो शासक (राजा) राज्य करते थे। प्राचीन स्पार्टा की भांति सिंकदर के भारत पर आक्रमण के समय में भारत के उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में स्थित पाटल राज्य का भी उदाहरण मिलता है जहाँ एक समय में दो शासक शासन

करते थे। प्राकृत में दोराज तथा संस्कृत में द्वीराजक कहे जाने वाले राज्य ऐसे थे जिनमें आपसी सहमति से साम्राज्य के दो भागों में बंट जाने पर भी महत्वपूर्ण विषयों पर दोनों शासक समन्वय के साथ समस्याओं को निपटाते थे तथा परस्पर सौहार्द प्रदर्शित करते थे।

जब ऐसे द्वैराज्यों में दोनों शासक आक्रामक होकर एक–दूसरे का विरोध तथा संघर्ष करते थे, तो उन्हें विरूद्धाराज्य कहा जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे राज्यों की भर्त्सना की है तथा जैन अनुश्रुतियों में जैन साधुओं को ऐसे राज्यों में प्रवेश, भ्रमण तथा निवास निषिद्ध बताया गया है। राजतंत्र तथा कुलीनतंत्र के साथ–साथ प्राचीन भारत में हमें गणराज्यों की भी उपस्थिति मिलती है। वैदिक काल तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से हमें इस प्रकार के राज्यों का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तरकुरू एवं उत्तरमद्र राज्यों को ऐसा ही बतलाया गया है। यूनानी लेखकों ने भी इन क्षेत्रों में सिकंदर के समय गणतंत्रों के विद्यमान होने का उल्लेख किया है। नगरराज्य के रूप में एक और शासन प्रणाली का वर्णन हमें मिलता है। एरियान न्यासा नामक एक स्वतंत्र नगर राज्य का उल्लेख करता है और साथ ही बतलाता है कि किस प्रकार उसका शासक (राष्ट्रपति) अपने तीस कर्मचारियों के साथ सिकंदर से मिलने जाता है। डायडोरस ऐसा ही कुछ वर्णन शिवी राज्य के बारे में भी करता है। कठों का संगाला तथा सिन्ध में पाटल भी ऐसे ही राज्य थे। प्रचलित की गई मुद्राओं के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि त्रिपुरी, उज्जयनी, वाराणसी, कौशाम्बी आदि भी अपने प्रारंभिक काल में नगर राज्य ही थे।

संयुक्त अथवा संघीय राज्य प्राचीन भारत में अनसुने नहीं थे। उत्तरवैदिक काल में कुरू पांचाल इसी प्रकार का एक राज्य था जहाँ एक ही राजा शासन करता था। पाणिनी के समय में पृथक क्षूद्रक तथा मालक राज्यों का वर्णन महाभारत में संयुक्त रूप से हुआ है। दोनों ने सिकन्दर के आक्रमण के समय संघ बना लिया तथा दोनों में परस्पर 10000 वैवाहिक संबंध स्थापित हुए। यौधेय गणराज भी तीन लघु राज्यों का संघ था। इसी प्रकार बुद्ध के काल में लिच्छवियों ने मल्ल तथा वैदेहों के साथ मिलकर संघ का निर्माण किया। प्रत्येक संघ की एक संयुक्त सेना होती थी तथा युद्ध एवं विदेशी नीति पर संयुक्त निर्णय लिये जाते थे।

परन्तु साधारणतया प्राचीन भारत में राज्य का स्वभाव एकात्मक था। राजा ही हर क्षेत्र में सर्वेसर्वा था वह अपने मंत्रियों तथा प्रान्तीय गर्वनरों के साथ प्रशासन संचालित करता था।

5.5 राज्य के घटक तत्व एवं उनकी जैविक प्रकृति

राज्य की परिकल्पना करते हुए प्राचीन भारतीय लेखकों एवं विचारकों ने उसके तीन प्रमुख तत्व बतायें गए हैं – भूमि, मनुष्य तथा संगठित सरकार की सत्ता। इसमें से दो तत्वों का समावेश कौटिल्य के 'अर्थ' में हो गया है तथा तीसरे तत्व को प्राचीन राजनीतिक ग्रन्थों में 'दण्ड' कहा गया है। राज्य की प्रारंभिक परिकल्पना जनजातीय थी किन्तु बाद में चलकर उत्तरवैदिक काल से यह प्रादेशिक हो गई। बड़े राज्यों की स्थापना के साथ ही यह अनुभव किया गया कि उसके विकास एवं सफलता हेतु सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों में ही प्रकार के विधान देने होंगे। अतः स्वधर्म तथा दण्ड विधान की क्रमशः उत्पत्ति हुई। क्योंकि प्राचीन भारत में राज्य तथा राजा को कभी भी स्वेच्छाचारी रुप में न ही देखा गया और न ही यह माना गया कि उनकी उत्पत्ति में किसी बाध्यता पर आधारित थी, अपितु यह माना गया कि मनुष्यों ने अपनी इच्छा से ही राजा का चुनाव किया इस कारणवश एक प्रजाहितकारी राज्य तथा राजा की अवधारणा ही प्रबल रही। इन परिस्थितियों में यही श्रेयस्कर माना गया कि प्रजा और राजा अपने स्वधर्म का पालन करते हुए कर्तव्य पथ पर अडिग रहेंगे और दण्ड विधान का प्रयोग करने की आवश्यकता राज्य अथवा राजा को कम से कम पड़ेगी। महाभारत में 'दण्ड' उस मर्यादा का नाम बतलाया गया है जो मनुष्यों को अव्यवस्था से संरक्षित करने के लिए तथा उन्हें आर्थिक रूप से संपन्न एवं सुखी बनाने के लिए स्थापित की गई। दण्ड शक्ति का सिद्धान्त एवं दण्ड नीति का प्रतिपादन उसके निरन्तर प्रयोग पर न होकर उसके न्यूनतम प्रयोग पर आधारित था। दण्डनीति राजा एवं प्रजा दोनों की ही लिए थी तथा राजा स्वयं भी दण्ड के आधीन था। कामन्दक और शुक्र ने दण्ड के लिए मर्यादा के स्थान पर 'दम' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है– दमन या नियंत्रण। स्वधर्म के सिद्धान्त से तात्पर्य है मानव का अपनी स्वेच्छा से सहर्ष समाज द्वारा निर्धारित अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का यथोचित निर्वहन करना। समाज में स्थापित चारों वर्णों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र तथा प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन के चार पड़ाव, जिन्हें आश्रम कहा गया – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास – इनके लिए प्रदत्त कर्त्तव्यों के अनुशीलन को ही स्वधर्म माना गया। यह स्वीकार गया कि उनके विमुख समाज जिसमें स्वधर्म का उल्लंघन हो, उसमें अव्यवस्था तथा अराजकता व्याप्त होगी तथा उसका विघटन–पतन हो जाएगा।

प्राचीन भारत के राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप की कल्पना करते हुए उसे एक जीवित–जाग्रत जैविक संस्था के रूप में प्रस्तुत किया। इस जीवंत सत्ता के घटक तत्वों के रूप में उन्होंने इसके सात अंगों (सप्तांग प्रकृति) का प्रतिपादन किया। यह अंग थे– स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद (राष्ट्र), पुर (दुर्ग), कोश, दण्ड (बल) तथा मित्र। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा गया कि जो भी सप्तांग राज्य के विरूद्ध आचरण करे उसका हनन कर देना चाहिए। शुक्रनीतिसार ने राज्य संस्था का शरीर के रूप में प्रतिपादन करते हुए बताया है कि राजा मूर्धा (सिर) के समान है, अमात्य आँख हैं, कोष मुख है, बल मन हैं, मित्र कान हैं, दुर्ग हाथ हैं तथा जन (राष्ट्र) पाँव हैं। शुक्रनीतिसार में एक अन्य स्थान पर राज्य को एक वृक्ष्य बताया गया है तथा उसकी सात प्रवृत्तियों को उस वृक्ष के सात अंगों के समकक्ष समझा गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसकी व्याख्या मिलती है। यद्यपि इससे स्पष्ट होता है कि यह सातों अंग परस्पर संबंधित एवं आश्रित थे तथा उन्हें पृथक करके नहीं अपितु समग्रता में ही समझने की आवश्यकता है तदापि उनके तुलनात्मक महत्व पर प्राचीन मनीषियों के मत को समझना भी अनिवार्य है। कौटिल्य तथा मनु दोनों ही यह मानते हैं कि सप्तांग राज्य एक सात भागों का ढीला संघ नहीं है बल्कि इसमें जैविक एकता अंतनिर्हित है। प्राचीन भारतीय अभिलेखों से भी हमें यह ज्ञात होता है कि सुदृढ़ राज्यों में इन सातों प्रवृत्तियों का समुचित समावेश विद्यमान था।

इन सातों घटक तत्वों में स्वामी (राजा) तथा अमात्य (मंत्री) केन्द्रीय सत्ता के द्योतक थे जो साम्राज्य को संप्रभुता एवं केन्द्रीय एकता प्रदान करती थी। राष्ट्र (जनपद), पुर (दुर्ग), बल (सेना) तथा कोष संसाधनों के परिचायक थे। राजा अब भूपति था तथा क्षेत्र अथवा जनपद उसकी राज्य सत्ता का अनिवार्य घटक था। दुर्ग एवं सेना के अभाव में उसकी सत्ता की सुरक्षा असंभव थी। राष्ट्र एवं सत्ता एवं राज्य की सुव्यवस्था के लिए संसाधन के रूप में कोष अपिराहार्य था, क्योंकि राज्यों में परस्पर संघर्ष की प्रवृत्ति थी इस कारण अपने साम्राज्य की सुरक्षा तथ विस्तार हेतु उपयुक्त राजनैतिक गठबंधनों के माध्यम से शक्ति संतुलन के लिए योग्य मित्रों (मित्र राज्यों) का होना भी महत्वपूर्ण था।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने निःसंदेह इन सात अंगों में राजा और उसकी सत्ता (अमात्य) को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उन्होंने

शेष अंगों की उपेक्षा की। वास्तव में उनका विचार था कि सभी अंग एक–दूसरे पर आश्रित हैं तथा सभी अपरिहार्य हैं। उनकी परस्पर तुलना करना ही बेईमानी है। पर हमें यहाँ यह भूलना नहीं चाहिए कि राज्य की जैविक संरचना के सिद्धान्त में कुछ अंतनिर्हित त्रुटियाँ हैं। एक जीवंत जागृत जीव के अंगों अथवा घटकों का अपना कोई पृथक अस्तित्व नहीं है तथा वह स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकते हैं जबकि इसके विपरीत राज्य के कुछ घटकों अथवा अंगों पर यह लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ दुर्ग तथा कोष (संसाधन) स्वतंत्र रूप से विद्यमान हो सकते हैं और उनके माध्यम से लोगों का एक समूह पुरानी सत्ता को अपदस्थ करके नए राज्य की स्थापना कर सकता है।

5.6 सारांश

इस प्रकार इस इकाई/अध्याय में हम यह देखते हैं कि किस प्रकार प्राचीन भारत में राज्यसत्ता तथा एक संस्था के रूप में राजा की उत्पत्ति हुई। प्राचीन भारतीय विचारकों ने इस संबंध में अनेकों सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तथा मूलतः यह बतलाया कि समसामयिक अराजकता तथा असुरक्षा की भावना के कारण मानव ने अपनी सुख समृद्धि के लिए एक नेता (राजा) का चुनाव किया। कालान्तर में जैसे ही राजा की शक्ति बढ़ी तो उसके व्यक्तित्व से देवत्व को जोड़ दिया गया। साम्राज्य विस्तार के साथ ही प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु राज्यों के प्रकार, उनकी प्रकृति तथा उसके घटक तत्वों अथवा अंगों का अध्ययन भी हुआ। परिणामस्वरूप, सत्ता के केन्द्र में स्थित राजा तथा उसके राज्य के संगठन, संयोजन तथा उसके कर्त्तव्यों के निर्वहन तथा आदेशों के निष्पादन का विस्तृत विवेचन भी हमें इस अध्याय से प्राप्त होता है।

5.7 बोध प्रश्न

1-प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।

2-राज्य का दैवीय अधिकार स्पष्ट कीजिए।

3-संयुक्त परिवार की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।

2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।
5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।
7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई 6 अष्टाध्यायी,महाभारत,पालि साहित्य,अर्थशास्त्र तथा यूनानी स्रोतों में वर्णित गणतंत्र

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 पाणिनी कृत अष्टाध्यायी के आधार पर गणतंत्रों का शासन

6.4 महाभारत तथा गणराज्य

6.5 पालि (बौद्ध) साहित्य और गणराज्य

6.6 अर्थशास्त्र तथा गणतंत्र

6.7 यूनानी स्रोतों में गणराज्यों का विवरण

6.8 सारांश

6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में, विश्व की अन्य सभ्यताओं के समकक्ष हीं, राजतंत्र ही मुख्य शासन पद्धति के रूप में प्रचलित था। किन्तु यह मान लेना कि राजतंत्र के अन्यत्र भारत में कोई अन्य शासन व्यवस्था थी ही नहीं, सवर्था गलत ही होगा क्योंकि प्राचीन भारत में हमें गैर–राजतांत्रिक शासन व्यवस्था का प्रचलन कुलीनतंत्र अथवा गणतंत्र के रूप में प्राप्त होता है।

यद्यपि कुछ लेखकों व इतिहासकारों का यह मत है कि प्राचीन भारत में गणतंत्रों के विद्यमान होने का दावा कपोल कल्पना है तथा यह गणतंत्र जनजातीय राज्यों से अधिक कुछ न थे जैसे कि मालवगण एवं यौधेयगण गणतंत्र न होकर मात्र मालव व यौधेय जनजातियाँ ही थीं, तथापि इसे नकार पाना संभव ही नहीं है कि 'गण' एक पृथक प्रकार की ऐसी राजव्यवस्था थी जो राजतंत्र से केवल भिन्न ही नहीं थी अपितु जिसमें गुणात्मक स्तर पर राजतंत्र से परस्पर भारी भेद थे। प्रस्तुत उदाहरण में भी यह स्वीकार करना ही होगा कि मालव तथा यौधेय जनजाति जिस राजव्यवस्था से संचालित थीं वह गणतांत्रिक व्यवस्था ही थी। **अवदानशतक (II)** में भी इस तथ्य का प्रतिपादन है कि जब मध्यप्रदेश के कुछ व्यापारी दक्कन में यात्रा पर थे तब वहाँ के एक स्थानीय राजा के पूछने पर उन्होंने बतलाया कि हमारे यहाँ कुछ राज्यों में तो राजा शासन करते हैं परन्तु अन्य स्थानों पर गणतांत्रिक व्यवस्था भी स्थापित है। कुछ इसी प्रकार का कथन जैन ग्रन्थ **आचारंग सूत्र** से भी प्राप्त होता है।

पाणिनी के अष्टाध्यायी, वेदव्यास कृत महाभारत, पालि साहित्य, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा यूनानी लेखकों द्वारा प्रतिपादित स्रोतों से भी हमें तात्कालिक एवं समसामयिक गणराज्यों एवं गणतंत्रों तथा उनकी शासन प्रणाली व पद्धति के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

इन सभी ग्रन्थों एवं स्रोतों से प्राप्त सामग्री से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गण' का अपना एक मौलिक तथा वैधानिक अर्थ था तथा वह एक विशेष व भिन्न प्रकार की शासन व्यवस्था का द्योतक था जिसमें राजशक्ति एक व्यक्ति (राजा) में निहित न होकर एक गण

अथवा व्यक्तियों के समूह के पास थी। एक अन्य पर्यायवाची शब्द जो 'गण' अथवा गणराज्य के लिये प्रयुक्त हुआ वह था 'संघ'।

6.2 उद्देश्य

यह इकाई प्राचीन भारत में विद्यमान गणराज्यों अथवा गणसंघों से सम्बन्धित है। विभिन्न देशी व विदेशी स्रोतों से प्राप्त सामग्री के आधार पर प्राचीन भारत में उदित तथा स्थापित गणराज्यों का एक वैकल्पिक राजव्यवस्था के रूप में अवलोकन, आकलन व विवेचन इस पाठ का महत्वपूर्ण उद्देश्य है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- प्राचीन भारत में गणतंत्रों की परिकल्पना एवं स्वरूप के बारे में जान सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय गणतंत्रों के प्रकार तथा उनके विस्तार का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राचीन भारत में विद्यमान राजतांत्रिक तथा गणतांत्रिक राजव्यवस्थाओं के परस्पर भेद तथा विभिन्नताओं का अनुमान लगा सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय गणतंत्रों के उदय तथा विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय गणतंत्रों की शासन पद्धति एवं प्रणाली का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

6.3 पाणिनी कृत अष्टाध्यायी के आधार पर गणतंत्रों का शासन

अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है तथा इसका काल लगभग 500 ई0पू0 है। जहाँ बौद्ध साहित्य में मूलतः पूर्वी भारत की परिस्थितियों का वर्णन है वहीं पाणिनी का मूल निवास स्थान उत्तर भारत होने के कारण अष्टाध्यायी में उत्तर भारत की परिस्थितियों का उल्लेख है। इस प्रकार अष्टाध्यायी बौद्ध ग्रंथों (साहित्य) का पूरक समझा जा सकता है।

अष्टाध्यायी में गणतंत्र जनपदों के लिए 'गण' शब्द का प्रयोग हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसी शब्द का प्रयोग किया गया है। पाणिनी 'संघ' शब्द का प्रयोग मात्र राजनैतिक संघों के लिये करते हैं, बौद्धों जैसे धार्मिक भिक्षु संघों के लिये नहीं।

पाणिनी दो प्रकार के संघो का उल्लेख करते हैं– आयुध जीवि (जो युद्ध परक गतिविधियों में संलग्न थे तथा विशेष रूप से वाहीक (पंजाब) क्षेत्र में विद्यमान थे) तथा अन्य। अष्टाध्यायी सूत्रों के बजाय काशिक कृति टीका तथा पाणिनी के गणपाठ में इन संघों का विशद उल्लेख मिलता है। इस आधार पर वाहीक क्षेत्र में निम्नलिखित संघों का वर्णन है –

शूद्रक, मालव तथा कौण्डीवृस – यह तीनों ही संघ आयुधजीवि थे। शूद्रक संघ का उल्लेख सिकंदर के आक्रमण वृतानत में ग्रीक लेखकों ने ओक्सिड्राकोई के नाम से किया है जो हाईडेस्पस नदी के तट पर स्थित था तथा जिससे सिकंदर का भीषण युद्ध हुआ था। पातंजलि के महाभाष्य के अनुसार शूद्रकों ने सिकंदर को परास्त किया था। ग्रीक लेखकों ने मालव संघ का उल्लेख मल्लोई नाम से किया है तथा यह वृतान्त दिया है कि शूद्रकों तथा मालवों की सेनाओं ने परस्पर मिलकर सिकंदर का सामना किया था। कौण्डीवृस संघ का उल्लेख पाणिनी के अन्यत्र कहीं और नहीं मिलता है।

इसी प्रकार एक अन्य आयुधजीवि संघ वृक का भी उल्लेख केवल अष्टाध्यायी में ही मिलता है। इसके अतिरिक्त 16 अन्य आयुधजीवि संघ– कौण्डीपरथ, दाण्डकी, कौष्ठकी, जालमानि, ब्रह्मगुप्त, जानकी, दामन्य, उलपय, आम्दिन्ति, काकदन्ति, शत्रुन्तपि, सार्वसेनि, विन्द्र, मीञ्जायन, उलभ तथा सावित्रीपुत्र का उल्लेख भी अष्टाध्यायी में है। इन 16 संघों में से प्रथम छः ने मिलकर कुछ–कुछ ग्रीक नगर राज्यों की भांति ही एक संघात (League) बनाया था जिसे वह 'त्रिगर्तषष्ठ' नाम से पुकारते थे। उत्तरी भारत का वज्जी संघ भी लगभग ऐसा ही संघात था।

अन्यत्र अष्टाध्यायी में हमें पर्श्व, यौधेय, वाह्लीक, उशीनर, सत्वत्, विशाल, असुर, राक्षस, वयस, मरूत, दशार्ह, पिशाच, वसु, कौशेय, कार्षापण, कौक्षेय, शैम्रेय, वार्तेय, जावालेय तथा भरत जैसे आयुधजीवि संघ जनपदों का वर्णन मिलता है।

ऐसे संघ जनपद जो आयुधजीवि नहीं थे उनमें ऋषि, अन्धक, वृष्णि एवं कुरू का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त मद्र तथा वृजि संघो का भी वर्णन प्राप्त होता है। मद्र अथवा मद्रक गण संघ की राजधानी शाकल (आधुनिक सियालकोट–पाकिस्तान) में थी। वृजि और कोई नहीं अपितु बौद्ध साहित्य में वर्णित वज्जी अथवा वृजिक संघ ही था जिसका अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त भर्ग, कुरूष, केकय, साल्व, काश्मीर, सुस्थल, उरूष और कौरव्य का भी उल्लेख अष्टाध्यायी में गणराज्यों के रूप में हुआ है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इनमें से कुछ का वर्णन बाद में रामायण तथा महाभारत में राजतंत्रों के रूप में हुआ है जबकि कुरू का वर्णन अर्थशास्त्र में गणसंघ के संदर्भ में हुआ है। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि

पाणिनी के काल में वस्तुतः यह सभी गणतांत्रिक व्यवस्था पर आधारित थे तथा बाद में चलकर ही इनमें से कुछ राजतंत्र हो गये।

अष्टाध्यायी में वर्णित राजन्य तथा आर्जुनायन संघों के वर्तमान समय में प्राप्त सिक्कों से उनकी गणसंघों के रूप में सत्ता निर्विवाद स्थापित हो जाती है।

पाणिनी द्वारा वर्णित शिवि पंजाब का प्रसिद्ध जनपद था जिसे ग्रीक लेखकों ने सिबोई (Siboi) कहा है। यह मालव के समीप स्थित था तथा इससे सिकंदर का भीषण युद्ध हुआ था। संभवतः अष्टाध्यायी का औष्ट्र गणसंघ, महाभारत में उल्लेखित औड्र जनपद ही था। यह बहुत रूचिकर है कि अष्टाध्यायी ने पांचाल, विदेह, मगध, गांधार, साल्व, अंग, कुरू, कलिंग तथा अवन्ति का वर्णन गणसंघ अथवा जनपद के रूप में किया है। कालान्तर में इनमें से कई निर्विवादित रूप से राजतंत्रीय महाजनपद के रूप में स्थापित हो गए।

6.4 महाभारत तथा गणराज्य

महाभारत के अनुशीलन से हमें ज्ञात होता है कि राजतंत्रों के अतिरिक्त ऐसे भी राज्य विद्यमान थे जो गणतांत्रिक थे। महाभारत में यौधेय, मालव, शिवि, औदुम्बर, भोज, कुकुर, वातधान, त्रिगर्त, अन्धक वृष्णि, यादव, अम्बष्ठ आदि गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। हम पहले देख ही चुके हैं कि इनमें से बहुत से राज्यों का गणतंत्रों के रूप में अष्टाध्यायी में उल्लेख मिलता है। हम पहले देख ही चुके हैं कि इनमें से बहुत से राज्यों का गणतंत्रों के रूप में अष्टाध्यायी में उल्लेख हो चुका है। महाभारत काल में संभवतः यदु (यादव), कुकुर, भोज, अन्धक तथा वृष्णि गणों ने परस्पर मिलकर एक संघ बना लिया था जिसका नेतृत्व स्वयं कृष्णं ने किया। यद्यपि कृष्ण इस संघ में 'गणमुख्य' थे परन्तु हमें महाभारत से यह विदित होता है कि इस संघ में दो दल थे जिनके नेता आहुक तथा अक्रूर थे। इन दलों में घोर मतभेद था जिससे कृष्ण परेशान रहते थे।

महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि समकालीन राजतंत्रों का यह प्रयास था कि गणतंत्रों की स्वायत्ता छीन कर उन्हें अपने आधीन कर लिया जाए। यादव संघ का प्रमुख कंस मगधराज जरासन्ध का मित्र था तथा मगधराज साम्राज्य विस्तार की नीति को अपनाये था। कामरूप राज भगदत्त, करूष राजा वक्र, वंग का राजा वासुदेव तथा चेदिराज शिशुपाल, जरासन्ध के सहायक थे। इस कारणवश यादव संघ की स्वतंत्रता खतरे में थी।

महाभारत में कर्ण विजय पर्व में मद्र, रोहितक, आग्रेय तथा मालव जनपदों का वर्णन 'गण' के रूप में है। सभापर्व में त्रिगर्त, यौधेय, अम्बष्ठ, क्षुद्रक, मालव, शिवि, औदुम्बर आदि का उल्लेख गणराज्यों के रूप में हुआ है जबकि शान्तिपर्व में गणराज्यों के स्वरूप, उनकी शक्तियों तथा उनकी निर्बलताओं की विस्तृत व्याख्या की गई है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार शक्तिशाली होने के बावजूद आपसी फूट के कारण यह गणराज्य निर्बल हो जाते हैं तथा किस प्रकार एक समूह के हाथ में नेतृत्व होने के कारणवश महत्वपूर्ण सूचना तथा संदेशों को गुप्त नहीं रखा जा सकता है जिसके परिणाम नकारात्मक होते हैं। साथ ही राजाओं द्वारा लोभ देकर भी गण मुख्यों में फूट डाली जा सकती है। इस पर्व में गणमुख्यों को फिर से दिशा निर्देश दिये गये हैं कि सुचारू संचालन के लिए उन्हें क्या नियम बनाने चाहिए तथा किस प्रकार अनुशासित आचरण करना चाहिए। महाभारत स्पष्ट रूप से कहती है कि गणों के शासन में कुलों का बहुत महत्व था जो उद्योग, बुद्धि तथा धन में समान न होते हुए भी जाति की दृष्टि से अपने को एक समान समझते थे। शासन में उनकी स्थिति एक समान होती थी।

6.5 पालि (बौद्ध) साहित्य और गणराज्य

बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में उल्लेखित षोड्श (सोलह) महाजनपद, जो राजतांत्रिक थे के अतिरिक्त भी बौद्ध साहित्य एवं जातकों और उनके भाष्यों में बहुत से गणतंत्रों के पूर्वी उत्तरप्रदेश विशेषकर गोरखपुर क्षेत्र तथा उत्तरी बिहार में विद्यमान तथा पल्लवित होने के साक्ष्य मिलते हैं। निःसंदेह सुमसुमागिरि के भग्ग, अलकप्प के बुली, रामग्राम के कोलिय तथा पिप्लावन के मोरिय (संभवतः मौर्य साम्राज्य के संस्थापन चंद्रगुप्त मौर्य के पूर्वजों का मूल निवास स्थान) बहुत छोटे क्षेत्रफल, जो आज के परिप्रेक्ष्य में एक या दो तहसील जितना होगा, पर राज्य करते थे। इनकी तुलना में कपिलवस्तु के शाक्य, वैशाली के लिच्छवी, कुशीनारा (कुशीनगर) तथा पावा के मल्ल और मिथिला के विदेह बड़े गणतंत्र थे। किन्तु इन चार गणतंत्रों का भी मिलाकर क्षेत्रफल जो कि पश्चिम में गोरखपुर से पूर्व में दरभंगा तक तथा उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में गंगा तक फैला था लम्बाई में 200 मील तथा चौड़ाई में 100 मील से अधिक न था। इन चार गणराज्यों में शाक्य जो गोरखपुर क्षेत्र में प्रभावी थे, क्षेत्रफल में सबसे छोटे थे। शाक्यों के पूर्व में कुशीनगर व पावा के मल्ल थे तथा मल्लों के पूर्व में लिच्छवी और विदेह विद्यमान थे। मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवी गणराज्यों के संयुक्त संघ को वज्जी कहा जाता था।

इन गणराज्यों के अतिरिक्त एक अन्य प्रमुख गणराज्य था कलामों का केसपत्तु गणराज्य। बौद्ध साहित्य में कपिलवस्तु के शाक्य राजा का महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा बुद्ध का जन्म इसी गणराज्य में हुआ था। शाक्य क्षत्रिय थे तथा सुमंगलविलासिनी और महावंश की कथाओं में शाक्यों को राजा ओक्काक अथवा इक्ष्वाकु का वंशज बताया गया है। विष्णुपुराण भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। महावस्तु में शाक्यों को आदित्यबन्धु कहा गया है। आदित्यबन्धु सूर्यवंशी का पर्यायवाची है। शाक्य राज्य की शासन प्रणाली को लेकर कुछ लेखकों ने उसे राजतंत्रात्मक माना है। परन्तु यह स्पष्ट है कि शाक्य गणराज्य में जनतंत्र शासन पद्धति प्रचलित थी। उनका कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं था। राज्य के मुखिया को ही 'राजा' कहा जाता था। इस काल के अन्य गणराज्यों में (जिनमें लिच्छवी भी शामिल थे) प्रत्येक कुल के मुखिया को 'राजा' कहते थे परन्तु शाक्यों में प्रत्येक कुल के मुखिया को 'राजा' न कहकर केवल राष्ट्रपति को ही राजा कहा जाता था। इसीलिए बुद्ध के पिता शुद्धोदन कुछ समय के लिए राजा कहलाये जबकि बाद में शुद्धोदन के भतीजे भद्दीय को 'राजा' कहा गया। जातकों में शाक्यों की परिषद तथा परिषद् सभागाार का उल्लेख मिलता है जहाँ सभी सदस्य मिलते थे तथा महत्वपूर्ण विषयों पर मंत्रणा विमर्श करते थे और निर्णय लेते थे।

निर्विवादित रूप से बुद्ध के जीवनकाल में मल्ल, लिच्छवी तथा विदेह गणतंत्र थे। इनके समीप में स्थित सशक्त साम्राज्य मगध तथा कौशल हर समय इन गणराज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने को तत्पर रहते थे जिस कारणवश इन तीनों ही गणराज्यों को समय$\leq$ पर मिलकर संघ बनाना पड़ा। लगभग 500 ई0पू0 के आते–आते तीनों ही गणराज्यों को मगध का आधिपत्य स्वीकारना पड़ा परन्तु इनमें से लिच्छवियों ने 300 ई0पू0 तक पुनः स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। कालान्तर में वह शक्तिशाली व प्रभावी हो गए तथा गुप्त साम्राज्य के शासकों ने भी उनके महत्व को स्वीकारते हुए उनके साथ राजनीतिक व वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। इसी प्रकार लिच्छवी गणराज्य भी अत्यन्त शक्तिशाली था। उसकी राजधानी वैशाली बहुत वैभवशाली थी। बौद्ध साहित्य के वर्णनानुसार जब महात्मा बुद्ध वैशाली गए तो उनका स्वागत करने 168000 व्यक्ति आए। बौद्ध व पालि ग्रन्थों में लिच्छवियों के 7707 राजाओं (मुखियों) का भी वर्णन मिलता है जो मिलकर शासन चलाते थे। यह सभी राजा निर्वाचित होते थे तथा इनका राज्याभिषेक भी होता था।

बौद्धकालीन तथा पालि साहित्य में वर्णित गणतंत्रों की शासन प्रणाली के कुछ प्रमुख लक्षण थे। राजा तथा उपराजा की पदवी जहाँ सदस्यों का निर्वाचन होता था, राजा के पद का वंशानुगत न होना, एक राजा या शासनाध्यक्ष की अनुपस्थिति, जनतंत्र अथवा कुलीन तंत्र की स्थापना, परिषद तथा परिषद सभागारों अथवा संथागारों की स्थापना तथा उनके माध्यम से प्रशासन चलाने की व्यवस्था, गणतंत्रों में समन्वय तथा मिलकर संघ निर्माण की प्रथा, विकसित एवं परिपक्व, बहुआयामी तथा विभिन्न स्तरीय न्याय व्यवस्था इत्यादि।

6.6 अर्थशास्त्र तथा गणतंत्र

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र ऐसे समय की रचना है जब संपूर्ण भारत में एकछत्र चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की परिकल्पना उत्पन्न हो चुकी थी। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पहले ही हर्यांक, शिशुनाग तथा नंद साम्राज्य स्थापित हो चुके थे। पर यह ऐसा भी युग था जब भारत में जनपदों की सत्तापूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी अपितु राजतंत्र एवं गणतंत्रों में संघर्ष हो रहा था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दो प्रकार के जनपदों का उल्लेख हुआ है– संघ संचालित जनपद तथा राजतांत्रिक जनपद। संघ जनपदों के भी दो प्रकार अथवा विभाजन थे– वार्ताशस्त्रोपजीवि संघ तथा राजशब्दोपजीवि संघ। प्राचीन विश्व इतिहास में फिनिशयन लोगों की तरह कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य में संलिप्त (संयुक्त रूप से जिसे 'वार्ता' कहा गया) संघों को जो इस प्रकार अपना निर्वाह करते थे और आत्मरक्षा के लिए शास्त्र धारण करते थे, उन्हें 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' कहा गया। कम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रैणि आदि इस प्रकार के संघ थे। दूसरी ओर लिच्छवी, वृजिक, मल्लक (मल्ल), मद्रक (मद्र), कुकुर, कुरू, पांचाल आदि को 'राजशब्दोपजीवि' संघों की संज्ञा दी गई है। राजशब्दोपजीवि संघ से तात्पर्य ऐसे सदस्यों से था जो मूलतः क्षत्रिय जाति के बाहरी लोग थे जो इन गणों में आकर स्थायी निवासी हो गए थे। क्योंकि ये विरासत में राजतांत्रिक परंपरा लेकर आए थे तथा इनके नायक (नेता) साम्राज्यवादी परिवारों से सम्बद्ध होकर राजनयिक उपाधि तथा राज्याभिषेक जैसे विशेषाधिकारों का दावा तथा उपभोग करते थे इसलिए ऐसे सदस्यों वाले संघो को अर्थशास्त्र (XI, 1) में राजशब्दोपजीवि कहा गया है। यहाँ कुरू का उदाहरण रूचिकर है क्योंकि जहाँ महाभारत में यह एक प्रसिद्ध राजतंत्र था वही कुरू कौटिल्य के समय तक गणतंत्र बन गया था। कमोबेश

यह स्थिति मद्र तथा भर्ग जनपदों की भी थी जो महाभारत काल में तो राजतंत्र थे परन्तु अर्थशास्त्र में उनका उल्लेख गणराज्य जनपदों के रूप में मिलता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में संघ, जनपदों का एक अन्य रूप में भी विभाजन किया गया है– अभिसंहत तथा विगुण। जिन संघों ने मिलकर अपना एक संघात (confederacy) अथवा लीग (League) का निर्माण किया उन्हें 'अभिसंहत' कहते थे। अन्य संघ जो अकेले रहने का निर्णय करते थे उन्हें 'विगुण' कहा जाता था।

क्योंकि कौटिल्य सत्ता के केन्द्रीयकरण तथा राजतंत्र का पक्षधर था अतएव अर्थशास्त्र में उसने संघजनपदों पर विजय के उपायों का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार भेद तथा दण्ड के माध्यम से विगुण संघो को सुगमता से पराजित किया जा सकता था। परन्तु यह अभिसंहत संघों के साथ संभव नहीं था इसलिए उनके प्रति साम और दान की नीति का विधान दिया गया। अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे निर्देश मिलते हैं जिसने इन संघ–जनपदों की शासन व्यवस्था की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है तथा यह भी पता चलता है कि विजिगीषु राजा को किस प्रकार इस संघों एवं उनके सदस्यों के पारस्परिक द्वेषों, ईर्ष्या, वैर तथा कलह का लाभ उठाकर इन्हें परास्त करना चाहिए। इस कार्य के लिए अर्थशास्त्र राजा को गुप्तचरों तथा स्त्रियों के प्रयोग के लिये प्रेरित करता है।

6.7 यूनानी स्रोतों में गणराज्यों का विवरण

मैसिडोनिया के शासक सिकंदर के भारत आक्रमण के दौरान तथा उसके बाद भारत में आये अथवा जनश्रुतियों के आधार पर बहुतेरे यूनानी (ग्रीक व रोमन) लेखकों व इतिहासकारों ने भारतीय राजनैतिक प्रणालियों जिसमें गणतांत्रिक व्यवस्थाएं भी सम्मिलित थीं, का वर्णन व उल्लेख किया। इनमें कुछ प्रमुख लेखक थे नियार्कस, ओनिसिक्रेटस, एरिस्टोबुलस, डायोडोरस, सेल्युकस, एरियन, प्लूटार्क, कर्टियस, जस्टिन, स्ट्रैबो। इन सभी ग्रीक लेखकों के विवरणों से हमें वृहद भारत के उत्तर–पश्चिम में विद्यमान अनेकों गणराज्यों अथवा गणतंत्रों का उल्लेख मिलता है। इन गणतंत्रों में से अधिकांश का उल्लेख ऊपर अष्टाध्यायी के वृतांत में ही किया जा चुका है। कुछ प्रमुख गणराज्य जो सिकंदर के आक्रमण के समय विद्यमान थे वह थे– ग्लौकनिकोई (अष्टाध्यायी में वर्णित ग्लुचुकायन जो केकय राजतंत्र के समीप स्थित था), कठइओई (Kathaioi) अथवा कठ जिसकी राजधानी संगल नगर थी (यहाँ के लोग सौन्दर्य के प्रशंसक थे तथा साथ ही उद्‌भट वीर भी थे। इन्होंने सिकंदर का सामना करने के लिये

'शकट व्यूह' की रचना की थी), अद्रेस्तई या अरिष्ट जो रावी नदी के तट पर स्थित था, सौफिति अथवा सौभूति यह कठ जनपद के निकट था (इस गणराज्य की चर्चा करते हुए यूनानी लेखकों ने इसकी न्याय व्यवस्था की बड़ी प्रशंसा की है। स्पार्टा की तरह यह गणराज्य सैन्यबल पर आधारित था।), सिबोई या शिवि (वितस्ता अथवा जेहलम नदी के तट पर जहाँ उसका संगम असिक्नि (चेनाब) नदी से हो उसके समीप), मल्लोई (मालव) तथा औक्सिड्राकेई शूद्रक (चेनाब नदी के दक्षिण में इरावती (रावी) नदी के साथ के प्रदेश में यह दो गणतंत्र स्थित थे एरियन के अनुसार यहाँ के लोग संख्या में अधिक थे तथा बड़े अद्‌भुत योद्धा थे। कर्टियस के अनुसार इनकी सेना में एक लाख सैनिक थे। इन्होंने सिकंदर से भीष्ण युद्ध किया), आग्रेय (शूद्रकों के दक्षिण–पूर्व में स्थित), अम्बष्ठ (आग्रेय के समीप स्थित, वीरता तथा जनबल से सक्षम ये अपनी युद्धनीति के लिए प्रसिद्ध थे), क्सेथ्रोई या क्षत्रिय, ओस्सादिओई या वसाति (शूद्रकों तथा मालवों के समीप), मुसिंकनोई (इनकी शासन प्रणाली, कानूनों तथा न्याय व्यवस्था की यूनानी लेखकों ने बड़ी प्रशंसा की है), ब्राह्मणक तथा पातलेन या पातानप्रस्थ।

इन सभी गणतंत्रों का विवरण प्रस्तुत करते हुए यूनानी लेखकों ने क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ, पातनप्रस्थ आदि जनपदों को लोकतांत्रिक कहा है। अन्य गणतंत्रों के वर्णन से यह पता चलता है कि उनमें ज्येष्ठों अथवा वृद्धों का शासन था।

6.8 सारांश

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्राचीन भारत में गणतंत्रों का आर्विभाव वैदिक काल में ही हो गया था। बौद्ध काल, पाणिनी की अष्टाध्यायी, महाभारत के वर्णन, अर्थशास्त्र में कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित उल्लेखों एवं निर्देषों तथा यूनानी स्रोतों के वृतांत व विवरणों से हमें एक वैकल्पिक शासन व्यवस्था के रूप में गणसंघों अथवा गणतंत्रों की उत्पत्ति एवं विकास से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। जहाँ विभिन्न कालखण्डों में कई प्राचीन गणतंत्रों का राजतंत्रों में विलय हो गया वहाँ कतिपय ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हुए हैं कि राजतंत्रों से विघटित हो गणतंत्रों की उत्पत्ति अथवा पुर्नउदय हुआ। समकालीन अथवा विभिन्न कालीन गणतंत्रों में परस्पर संयुक्त संघ तो बने ही परन्तु आपसी द्वेष, वैमनस्य के परिणामस्वरूप आपसी संघर्ष भी हए। ऊपर हम पढ़ चुके हैं कि समकालीन गणतंत्रों में भी भिन्नता अथवा भेद थे तथा उनके स्वरूप, शासन व्यवस्था की संरचना आदि को लेकर कई प्रकार थे।

परन्तु इन सबके बावजूद कुछ विषयों पर इन संघों में समरूपता एवं समानता थी। इन सभी गणतंत्रों में नेतृत्व केन्द्रित नहीं था तथा एक व्यक्ति (राजा) की स्वेच्छा पर आधारित नहीं था। परिषद् के सदस्य, प्रशासनिक अधिकारी, राष्ट्रपति, प्रमुख न तो एकाधिकारी थे तथा न ही उनके पद वंशानुगत थे। संघों व गणराज्यों के संगठन में कुल, जाति व श्रेणी का महत्व अवश्य था परन्तु सभी पद सीमित अवधि के लिये निर्वावित थे। क्योंकि गणराज्यों में अधिकांशतया एक राजा या मुखिया का शासन नहीं होता था इसीलिए प्रशासन सुचारू रूप से चलाने हेतु अधिक राजदूतों की नियुक्ति होती थी। सत्ता के विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप प्रशासनिक समस्याएँ उत्पन्न होती थीं तथा व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं के कारण वैर, द्वेष, ईर्ष्या व वैमनस्य भी पैदा होते थे जिनका लाभ उठाकर साम्राज्यवादी शक्तियाँ इन गणराज्यों के विनाश अथवा विलय के लिये सदैव आतुर रहती थीं। सभी गणराज्यों की अपनी एक प्रशासनिक परिषद् होती थी तथा नियमित विमर्श के लिये उसका सभागार अथवा संथागार प्रयोग में लाया जाता था। बड़े गणराज्यों में ग्रामीण तथा केन्द्रीय स्तर पर परिषदों की व्यवस्था की जाती थी तथा इनमें संप्रभुता एक वृहद तथा विशाल केन्द्रीय परिषद में निहित थी। उदाहरणार्थ लिच्छवि तथा यौधेय गणराज्यों में इस परिषद के सदस्यों की संख्या क्रमशः 7707 तथा 5000 थी। यह संख्या यद्यपि बहुत बड़ी दिखाई देती है तथापि प्राचीन यूनानी परिषदों की अपेक्षा यह संख्या काफी कम है। साथ ही हर समय सभी सदस्य मंत्रणाओं में उपस्थित नहीं होते थे।

यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अनुचित न होगा कि मूलतः यह गणतंत्र लोकतांत्रिक अथवा जनतांत्रिक न होकर श्रेणितंत्र या कुलीनतंत्र (Aristocracy) ही थे। परन्तु कदाचित इन गणतंत्रों को वर्तमान में स्थापित गणतांत्रिक व लोकतांत्रिक परंपराओं एवं परिपाटियों के परिपेक्ष में आंकना पूर्णतया अनुचित होगा।

6.9 बोध प्रश्न

1-अष्टाध्यायी में वर्णित गणतंत्रों की शासन व्यवस्था बताइये।

2-महाभारत में वर्णित गणराज्यों के बारे में आप क्या जानते हैं?

3-बौद्ध साहित्य में वर्णित गणराज्यों की स्थिति स्पष्ट कीजिए।

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।
5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।
7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. चतुर्वेदी, मधुकर श्याम, प्राचीन भारत में राज्य व्यवस्था, कॉलेज बुक हाउस, जयपुर।
11. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई 7 राजत्व की उत्पत्ति एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 राजा अथवा राजत्व की उत्पत्ति तथा प्रकृति

7.3 क्या आरंभिक भारतीय राजत्व प्रविधितंत्र अथवा धर्मतंत्र था?

7.4 राजा की स्थिति

7.5 राजा के गुण, कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व

7.6 राज्यारोहण समारोह तथा राजा की स्थिति

7.7 क्या राजा का निर्वाचन अथवा चुनाव होता था अथवा वह दैवी शक्तियों का स्वामी माना जाता था ?

7.8 सारांश

7.9 बोध प्रश्न

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 प्रस्तावना

एक समूह, कबीले, ग्राम, नगर, प्रदेश, राष्ट्र अथवा समाज को व्यवस्थित तथा सुचारू रूप से चलाने हेतु अधिकांशतः उस समूह एवं संस्था के सदस्यों ने एक नेता, प्रशासक अथवा शासक की उपस्थिति को अनिवार्य माना है। विश्व की सभी सभ्यताओं में यह परिपाटी प्रचलित रही। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन भारत इससे अछूता क्योंकर रहता। सौभाग्यवश प्राचीन भारतीय विद्वानों एवं विचारकों ने अपनी कृतियों के माध्यम से तथा उनमें प्रस्तुत लेखों से एक संस्था के रूप में राजा से हमें अवगत कराया है। परन्तु यहाँ यह जानना अति आवश्यक है कि आये उल्लेखों का स्वरूप पूर्ण तथा शुद्ध रूप से ऐतिहासिक न होकर आंशिक रूप से पौराणिक तथा दंतकथा आधारित है। परन्तु यह मान लेना कि प्राचीन भारत में राजत्व की परिकल्पना कोरी कपोल कल्पित है भी सर्वथा अनुचित होगा। स्रोतों में आये संदर्भ अनुभाविक हैं तथा उस काल के समाज की सामूहिक चेतना पर आश्रित हैं।

ज्ञात हो कि इस स्व–अध्ययन सामग्री की इकाई संख्या 5 में पहले ही हम राज्य की उत्पत्ति तथा प्राचीन भारत में उसके प्रकार तथा उसकी प्रकृति के बारे में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। क्योंकि राज्य की उत्पत्ति के केन्द्र में राजा का विद्यमान होना अवश्यमभावी है और दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं इसलिए संस्था के रूप में राज्य अथवा राजा को पृथक करके देखना अनुचित होगा। इस कारणवश कुछ ऐसे तथ्य जो दोनों की उत्पत्ति के लिए समान हैं उनको या तो यहाँ छोड़ ही दिया गया है अथवा उनका वर्णन संक्षिप्त रूप में ही किया गया है। ऐसा मूलतः अध्ययन सामग्री में विद्यमान इकाईयों के परस्पर संबंधित/आश्रित रहने के कारण तथा सामग्री की पुनरावृत्ति से बचने के लिए किया गया है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई में प्राचीन भारत में राजत्व अर्थात् एक व्यक्ति अथवा संस्था के रूप में राजा के उदय, उसके कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व तथा राजत्व के महत्व का वर्णन है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप –

- भारत में राजत्व (राजा) के उदय के बारे में जान पायेंगे।
- राजत्व की उत्पत्ति के प्रमुख कारकों एवं उस समय की परिस्थितियों के बारे में जान पायेंगे।
- कालान्तर में एक संस्था के रूप में राजत्व के विकास का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- राजा की शक्तियों एवं अधिकारों के बारे में बता पाऐंगे।
- राजा के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की व्याख्या कर सकेंगे।
- यह निश्चय कर पाऐंगे कि राजा का वरण होता था अथवा निर्वाचन? उसे दैवी अधिकार प्राप्त थे अथवा नहीं। क्या राजा तथा प्रजा में कोई अनुबंध आधारित संबंध था अथवा नहीं?

7.2 राजा अथवा राजत्व की उत्पत्ति तथा प्रकृति

हालांकि प्राचीन भारत में अन्य शासन व्यवस्थायें भी विद्यमान थी परन्तु राजतंत्रीय प्रणाली या व्यवस्था ही सबसे प्रमुख तथा सामान्यतः प्रचलित व्यवस्था थी। परिणामवश इस इकाई में हम राजत्व तथा उससे संबंधित विषयों पर चर्चा करेंगे।

वैदिक साहित्य कुछ स्थानों पर राजत्व अथवा राजा की उत्पत्ति के विषय में चर्चा करता है। यह उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार आरंभ में देवासुर संग्राम होता है तथा उसमें देव लगातार असुरों के हाथों परास्त होते हैं। परिणामतः सभी देव एकत्रित हो इस समस्या पर समाधान हेतु चर्चा करते हैं। अंततः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी निरन्तर पराजय का कारण एक नेता अथवा राजा का न होना है। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि इन परिस्थितियों में देवों ने सोमदेव को अपना राजा घोषित करने का निर्णय लिया। तदउपरांत देव असुरों को हराने में सफल हुए। अन्य स्थानों पर हमें बताया गया है कि इन्द्र की देवराज के रूप में

नियुक्ति की गई। तैत्तरीय ब्राह्मण कहता है कि ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि देवों में इन्द्र सर्वाधिक बलवान, प्रसिद्ध तथा वरिष्ठ था। एक तीसरे मतानुसार वरूण देवराज बनना चाहता था परन्तु अन्य देवों को यह अस्वीकार्य था। अंततः वरूण ने अपने पिता प्रजापति से एक विशेष मन्त्र सीरवा जिससे वह अन्य देवों से श्रेष्ठ हो गया पणिामस्वरूप उन्होंने वरूण को अपना राजा स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार इन दृष्टान्तों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित प्राचीन काल में भारतीय लोग मानते थे कि राजत्व की उत्पत्ति सैन्य आवश्यकता से हुई तथा राजा एक महान सेनानायक था जिसकी सत्ता सबको स्वीकार्य थी। युद्ध में सफलता प्राप्त करने की योग्यता ही शासक को शक्तिशाली एवं महान बनाती थी और उसकी शक्ति (सबलता), जीवट, विवेक तथा ऊर्जा अंततोगत्वा उसे राजा के रूप में सिंहासनारूढ़ करती है। कालान्तर में इस शक्ति ने राजा के पद को वंशानुगत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

दूसरी ओर आरंभिक भारतीय चिंतन एवं हिन्दू परिवार की ज्ञात क्रमागत उन्नति (क्रमिक विकास) प्रक्रिया से यह स्थापित होता है कि राजत्व की उत्पत्ति भारतीय समसामयिक समाज में विद्यमान पितृतंत्रात्मक वातावरण में हुई। तदानुसार सशक्त एवं सबल कुलपति का अधिक शक्तिशाली विषयपति में रूपान्तरण हो गया। परन्तु इस सन्दर्भ में सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि सभी कुलों में वरिष्ठतम परिवार (अथवा कुल) के नेता को ही इन सब राजसी गुणों से संपन्न मानकर उसे राजा घोषित कर दिया जाता था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि राजा का चुनाव केवल संदेहास्पद स्थिति में ही होता था जब सत्ता का दावा करने वाले व्यक्ति का पता कर पाना कठिन होता था।

7.3 क्या आरंभिक भारतीय राजत्व प्रविधितंत्र अथवा धर्मतंत्र था ?

वैदिक साहित्य में अश्विन बन्धुओं का उल्लेख है जिन्होंने अपने चिकित्सकीय कौशल के बल पर दैवत्व प्राप्त किया। इसी प्रकार हमें इसी साहित्य में जोकि वस्तुतः धार्मिक साहित्य है ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ राजत्व की उत्पत्ति का संबंध या उद्भव पुरोहित के पद अथवा कार्य से प्रतीत हो। प्राचीन मिस्र, यूनान तथा रोम के विपरीत वैदिक राजा किसी भी प्रकार के पुरोहितीय कार्यों अथवा उत्तरदायित्वों का निर्वहन नहीं करता था तथा न ही वह पूरे समुदाय या समाज के लिये आयोजित यज्ञ की अध्यक्षता करता हुआ दिखाई पड़ता है। हित्ती शासकों की तरह सैन्य अभियानों में सफलता के पश्चात् वह सार्वजनिक अनुष्ठानों में

प्रतिभागी भी नहीं बनता। कुछ इसी प्रकार हम पाते हैं कि किसी चिकित्सक की व्यावसायिक विलक्षणता योग्यता तथा प्रसिद्धि के कारण उसके राजा बन जाने का भी कोई उदाहरण हमें इस काल में नहीं मिलता है। अतएव यह सिद्ध करता है कि प्रारंभिक भारतीय राजत्व प्रविधितंत्रात्मक (प्रौद्योगिकीतंत्रात्मक) अथवा धर्मतंत्रात्मक नहीं था।

प्राचीन भारत के विभिन्न कालों में चाहे समाज वर्ण आधारित रहा हो या जाति में विभक्त हो जहाँ जातिभेद कठोर हो या उदार हो, गैर क्षत्रिय राजाओं के उदाहरण हमें निरन्तर प्राप्त होते हैं।

7.4 राजा की स्थिति

कौटिल्य के सत्ता के सप्तांग सिद्धांत में राजा को राज्य में मूर्धन्य स्थान मिला है। उसे ही राज्य का केन्द्र बिन्दु बताया गया है। अन्य प्राचीन नीतिग्रन्थों में भी राजा की स्थिति एवं उसके कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। सभी ने यह विचार प्रकट किये हैं कि राज्यसंस्था के लिए सर्वाधिक महत्व राजा का है। राजा, जन (प्रजा) तथा राज्य को सदैव एक साथ जोड़ कर ही देखा गया तथा परस्पर आाश्रित बताया गया। इन विचारकों का मानना था कि दण्ड के विधान तथा मर्यादा के अभाव में राज्यसत्ता तथा सामाजिक व्यवस्था संभव नहीं है अतः दण्ड को धारण करने वाले (राजा) का होना आवश्यक है। परन्तु अन्यत्र समकालीन सभ्यताओं के विपरीत प्राचीन भारतीय राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। वह दण्ड को धारण अवश्य करता था परन्तु वह स्वयं दण्ड के आधीन था। उसकी सत्ता निरंकुश न थी। राज्याभिषेक के समय राजा को प्रतिज्ञाबद्ध होना पड़ता था कि वह धर्म का पालन करते हुए स्वेच्छाचार से बचेगा। महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है कि राजा प्रजा का प्रथम शरीर है तो प्रजा भी राजा का अनुपम शरीर है। राजा के बिना राज्य नहीं हो सकता और राज्य के बिना राजा। राजा को प्रजाहितकारी होना चाहिए यह सिद्धान्त प्राचीन भारत में सर्वमान्य था। शान्तिपर्व में ही भीष्म कहते हैं कि राजा ही काल का कारण होता है। राजा यदि राजधर्म का पालन करेगा तथा सबको स्वधर्म का पालन करवाएगा, तो वह स्वयं काल का निर्माण करेगा। दण्ड रूपी मर्यादा का प्रजा से पालन करवाना राजा का ही कार्य है।

7.5 राजा के गुण, कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व

राज्य संस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजा ही था। अतएव उसका सर्वगुण संपन्न तथा आदर्श होना अवश्यमभावी एवं अनिवार्य था। उसके राजोचित गुणों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य लिखता है कि उसे उच्च कुल का होना चाहिए, उसमें दैवी बुद्धि एवं शक्ति होनी चाहिए, वृद्धजनों का उसे आदर करना चाहिए, उसे धार्मिक, कर्त्तव्यपरायण, उत्साही तथा कृतज्ञ होना चाहिए। दण्ड में उसे दृढ़, कठोर तथा निष्पक्ष होना चाहिए। उसे विचारशील, सहनशील तथा उदार ह्रदय होना चाहिए। उसे शौर्यवान, दक्ष, ग्रहणशील और जिज्ञासु होना चाहिए तथा उसे दीर्घसूत्री, उदासीन एवं निर्णय में संशय से बचना चाहिए।

कौटिल्य विस्तारपूर्वक बताते हैं कि क्यों राजा का जीतेन्द्रीय होना परमआवश्यक है तथा किस तरह इसके अभाव में उसका, उसकी प्रजा का तथा उसके राज्य का विनाश होना निश्चित है। उसके लिए काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, मान, भय का त्याग अनिवार्य बताया गया। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसका जीवन सुख से विहीन हो। अपितु अर्थशास्त्र कहता है कि उसे धर्म, अर्थ तथा काम रूपी त्रिवर्ग का समरूप से सेवना करना चाहिए। केवल अतिरेकता से उसे बचना चाहिए अन्यथा उसके प्रमादी हो जाने की अवस्था में उसके कर्मचारी तथा प्रजा भी प्रमादी बन जाएगी।

कौटिल्य ने राजा के लिए कठोर परिश्रमी होना अनिवार्य माना है। उसने राजा के लिए दिन एवं रात्रि का समय विभाग निश्चित एवं निर्धारित करते हुए यह नियत किया कि राजा को मात्र चार घण्टे ही शयन करना चाहिए। भोजन, स्नान, नित्यकर्म आदि के लिए तीन घण्टे नियत हुए जिसमें से आवश्यकतानुसार उसे स्वाध्याय एवं विचार–विमर्श के लिए समय निकालना चाहिए। शेष समय राजा को राज्य कर्म में ही व्यतीत करना चाहिए। आमोद–प्रमोद के लिए डेढ़ घण्टा निर्धारित था किन्तु उसमें भी उसे राजकीय विषयों पर विचार–विमर्श करने का निर्देष था।

मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतिग्रन्थों में भी राजा का इंद्रजयी होना व नियंत्रण में रहना अनिवार्य माना गया है। मनु के अनुसार क्रोध जनित आठ व्यसनों तथा कामवासना से उत्पन्न दस व्यसनों से प्रयासपूर्वक बचने के उपरान्त ही राजा प्रजा को वश में रखने में समर्थ हो सकता है। शुक्रनीतिसार में भी लगभग मिलते–जुलते रूप में यह लिखा गया है कि राजा को

इन्द्रियों तथा मन को वश में कर जीतेन्द्रीय बनना चाहिए। प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में वही राजा है जो जीतेन्द्रीय होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करे, विवेकपूर्ण दण्डशक्ति का प्रयोग करे, सबको स्वधर्म में स्थित रखे तथा कभी स्ववश होकर कार्य न करे। केवल राजकीय वस्त्र पहनकर या राजकीय यान पर आरूढ़ होने से ही कोई राजा नहीं हो जाता। राजा के पद का भोग विलास से कोई संबंध नहीं है। राजा को उत्थानशील और चरित्रवान होकर दूसरों के सम्मुख आदर्श स्थापित करना चाहिए।

इसके साथ ही प्राचीन नीतिग्रन्थों में हमें राजा–कर्मचारी–प्रजा के आपसी संबंधों, समन्वय संबंधित कतिपय निर्देश प्राप्त होते हैं। इनके अनुसार राजा को प्रजाहितकारी होना चाहिए। प्रजा तथा अपने कर्मचारियों की आर्थिक सुरक्षा का ध्यान रखते हुए उन्हें इतने साधन अथवा वेतन उपलब्ध कराना चाहिए जिससे उनका भरण–पोषण यथोचित संभव हो सके। राजा इतने महत्वपूर्ण कार्य करता था, तब भी राज्य में उसकी स्थिति ''ध्वज मात्र'' ही मानी गई है, क्योंकि राज्यशक्ति का प्रयोग मात्र ही उसमें निहित था जिसे वह अपने मंत्रियों एवं अमात्यों के सहयोग से प्रयुक्त करता था। परन्तु राजा राजधर्म या दण्डनीति का प्रणेता नहीं था अपितु वह तो इनके आधीन रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन करता था। इसीलिए विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक में राजा–चन्द्रगुप्त मौर्य को 'सचिवायत्त–सिद्धि' बतलाया है।

7.6 राज्यारोहण समारोह तथा राजा की स्थिति

राजा के राज्यारोहण से सम्बन्धित राजसूय यज्ञ समारोह में निर्धारित विधियाँ एक प्रक्रियायें बड़ी रोचक हैं। राज्यारोहण से पहले दिन राजा अपने रत्नीयों (प्रधान प्रशासक एवं अमात्यों) के गृह जाकर उनके साथ मिलकर संस्कार करता था तथा भोजन करता था। इस प्रकार राजा प्रशासन में अपने मंत्रियों के महत्व को प्रदर्शित करता था तथा साथ ही उनमें भी अपने प्रति अपनत्व की भावना जागृत करता था।

दूसरे दिन मुख्य समारोह होता था तथा उसमें राजा सिंहासनारूढ़ होता था। सभी वैदिक संस्कार तथा धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से अनुष्ठान होता था तथा यह प्रार्थना की जाती थी कि राजा में दिव्यता आए तथा वह राजधर्म का पालन करने योग्य बने। वाजपेय यज्ञ समारोह में रथ–दौड़ का आयोजन होता था जिसमें राजा आसीन रथ की ही विजय होती थी। इस प्रकार सांकेतिक रूप से राजा की अपने पूरे राज्य तथा उसके नागरिकों पर पूर्ण सत्ता को प्रदर्शित किया जाता था।

7.7 क्या राजा का निर्वाचन अथवा चुनाव होता था अथवा वह दैवी शक्तियों का स्वामी माना जाता था ?

यद्यपि इस विषय में विस्तार से इकाई/अध्याय 5 में पहले से ही व्याख्या की जा चुकी है तथापि इस संदर्भ में यहाँ कुछ तथ्यों को संक्षेप में प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। उपर्युक्त दो गद्यांशों से यह सहज ही प्रतीत होता है कि राजा के पद में दैवी शक्तियाँ निहित थी तथा वह राज्य के दैवी सिद्धान्त के अनुसार ही शासन करता था। परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत थी। राज्यारोहण के राजसूय समारोह के अंतर्गत राजा को धर्म के आधीन ही रखा गया। सर्वशक्तिमान से यह प्रार्थना की गई कि उसमें देवताओं के गुण आवें तथा उसका व्यक्तित्व पूर्ण हो जाये। वह स्वयं देव बन जाए यह प्रयास कदापि नहीं हुआ। राजा का अपने रत्नीयों के साथ अनुष्ठान तथा भोजन करना इसी ओर इंगित करता है। वाजपेय रथ दौड़ में उसका प्रथम आना इस का द्योतक नहीं था कि वह दैवी शक्तियों से युक्त है अपितु वह यह प्रदर्शित करता था कि राजा अपने राज्य में सर्वश्रेष्ठ है। ऋग्वेद में भी मात्र एक ही बार पुरूकुत्स को अर्धदेव बताया गया है तथा अथर्ववेद के भी एक बाद के गद्यांश (विवरण) में राजा परीक्षित को 'मनुष्यों में देव' कहा गया है। वैदिक काल में तो समिति नामक संस्था को यह अधिकार था कि वह दुराचारी शासक (राजा) को सत्ता मुक्त कर सकती थी। ऐसी परिस्थिति में राजा के दैवी सत्ता का स्वामी होना असंभव था। कालान्तर में विशेषतः महाजनपदों तथा साम्राज्यों के उदय के साथ राजा की शक्तियों में अपार वृद्धि हुई तथा राजा को अर्धदेव माना जाने लगा। महाभारत में वर्णित है कि किस प्रकार विष्णु स्वयं प्रथम राजा के शरीर में प्रविष्ट हो गए। नारद (नारद स्मृति के लेखक) भी लिखते हैं कि राजा चाहे बुरा ही क्यों न हो उसका देव के समान सम्मान केवल इसलिए होना चाहिए क्योंकि वह राजा है। परन्तु ऐसा मानने वाला नारद एकमात्र स्मृतिकार है। प्राचीन भारत में मूलतः कुषाण काल में सर्वप्रथम राजा को देव समतुल्य माना गया। देवपुत्र तथा देवकुल का सिद्धान्त कुषाण काल में ही आया। कुछ स्मृतियों तथा पुराणों में भी राजा की सत्ता को दैवी बताया गया। विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण में वर्णन है कि राजा की देह में अनेक देवों का वास है। अवतारवाद की अवधारणा के उदय के पश्चात् यह प्रचलन बढ़ गया। परन्तु यह दृष्टिकोण केवल कुछ ग्रन्थों एवं स्मृतियों तक ही सीमित रहा तथा केवल गुणात्मक रूप में ही कार्यात्म रूप में राजा को देवों के समकक्ष देखा गया। दण्डनीति तथा धर्म राज्य संस्था के परिप्रेक्ष्य में हमेशा सर्वोपरि रहे तथा राजा सर्वथा उनके आधीन ही रहा।

दूसरी ओर ऋग्वेद के कुछ हिस्से इस ओर इंगित करते हैं कि राजा का चुनाव होता था। एक सूक्त में लिखा है कि विश ने राजा का चुनाव किया। एक स्थान पर अर्थशास्त्र भी यह आशा व्यक्त करता है कि राज्याभिषेक के माध्यम से राजा बनने वाला व्यक्ति प्रजा द्वारा चयनित हो। परन्तु संभवतः यह चुनाव पूरी जनता द्वारा नहीं किया जाता था। उत्तरवैदिक साहित्य के एक संदर्भ में यह कहा गया है कि केवल वह ही राजा बन सकता है जिसे अन्य राजा शासक के रूप में स्वीकार कर लें। इससे यह प्रतीत होता है कि गणमान्य लोग (कुलपति तथा विशपति) ही राजा के चुनाव की प्रक्रिया में प्रतिभागी थे।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राजा का चुनाव, प्राचीन भारत में नियम के बजाय एक अपवाद मात्र था। प्रारंभ में तो वरिष्ठतम परिवार के वरिष्ठतम सदस्य को ही राजा के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था और चुनाव मात्र उस स्थिति में होता था जब परिवारों में आपसी संघर्ष एवं वैमनस्य हो और दावा करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर विवाद हो। ऋग्वेद काल से ही भारत में राजतंत्रीय शासन वंशानुगत था। त्रत्सु जनजाति में चार वंशों तक राजा का वंशानुगत प्रमाण विद्यमान है।

कुछ एक बार यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि प्राचीन भारत में रूप्रदमन प्रथम, हर्षवर्धन तथा गोपाल (पाल वंश) जैसे राजा जनता के चुनाव के माध्यम से ही सिंहासनारूढ़ हुए। परन्तु हमें इस संदर्भ में यह नही भूलना चाहिए कि इस प्रकार के वक्तव्य स्तुतिग्रन्थों अथवा लेखों से ही प्राप्त होते हैं तथा उन पर पूर्ण विश्वास करना अनुचित होगा। जहाँ तक हर्षवर्धन की बात है तो यह ध्यान रखना चाहिए कि हर्ष का चुनाव उसके पैतृक राज्य थोनश्वर के राजा के पद हेतु होने का यहाँ वर्णन नहीं है। अपितु यह वर्णन मौखरी राज्य की राजधानी कन्नौज की राजसत्ता के संबंध में है जहाँ हर्ष के बहनोई ग्रहवर्मन की हत्या के पश्चात् अराजकता का वातावरण था तथा उससे मुक्ति पाने के लिए ही कन्नौज के लोगों ने चुनाव के माध्यम से हर्षवर्धन का अपने राजा के रूप में वरण किया।

7.8 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने जाना कि राजत्व अथवा एक संस्था के रूप में राजा कि उत्पत्ति प्राकृतिक कारणों से समाज को दिशा दिखाने हेतु तथा उसे व्यवस्थित और सुचारू रूप से चलाने के लिए हुई। प्राचीन भारत में मुख्यतः राजतांत्रिक शासन प्रणाली ही प्रचलित रही। यद्यपि कुछ उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि राजा का चुनाव होता था तथापि यह स्थापित है कि केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ गणमान्य लोग ही इस प्रक्रिया में भाग लेते थे अन्यथा राजसत्ता वंशानुगत ही थी। परन्तु राजा सर्वशक्मिान होते हुए भी निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था क्योंकि वह सर्वथा दण्डविधान तथा धर्म के आधीन था तथा इनके विमुख होने पर उसे सत्ता मुक्त किया जा सकता था। सप्तांग सिद्धान्त के अनुसार राजा सातों अंगों में प्रधान था परन्तु फिर भी उसकी सत्ता अन्य प्रकृतियों (अंगों) पर आधारित थी। राजा के कर्त्तव्य तथा उसके उत्तरदायित्व स्पष्ट रूप से प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं विचारकों ने रेखांकित कर दिये थे तथा राजा को उनके अनुसार ही शासन करना होता था।

7.9 बोध प्रश्न

1-राज्य की प्रकृति के बारे में आप क्या जानते हैं?

2-राजा की स्थिति स्पष्ट कीजिए।

3-राजा के गुण एवं कर्तव्य बताइये।

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।

4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।
5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।
7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई –8 सभा, समिति, विदथ एवं पौर जनपद

इकाई की रूपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 सभा, समिति, विदथ–एक सामान्य परिचय

8.3 सभा

8.4 समिति

8.5 विदथ

8.6 पौर–जनपद

8.7 सारांश

8.8 बोध प्रश्न

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.0 प्रस्तावना

अध्याय 6 में हमने जाना कि प्राचीन भारतीय साहित्य में, चाहे वह धार्मिक हो अथवा धर्मेतर, चाहे पाली में हो या प्राकृत में या संस्कृत में, देशज हो अथवा विदेशी, गणतंत्रों का भारत में विद्यमान होने का प्रमाण अवश्य मिलता है। जिस प्रकार एक आधुनिक राज्य में शासनध्यक्ष के अतिरिक्त एक केन्द्रीय सरकार, मंत्री परिषद, विधायिका एवं केन्द्रीय सभा – जो कार्यकारिणी पर नियंत्रण रख सके तथा राज्य के कानून बना सके – का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार की शासन व्यवस्था विशेषतया केन्द्रीय सभाओं की उपस्थिति हमें प्राचीन भारतीय गणतंत्रों में मिलती है। यह सभाऐं किस प्रकार की अभिरूचियों एवं प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती थीं तथा क्या समतुल्य व समान संस्थाऐं गणतंत्रों से अधिक मुखर एवं व्यापक राजतन्त्रों में भी विद्यमान थीं – इन सब का विश्लेषण एवं अवलोकन हम इस अध्याय में करेंगे।

8.1 उद्देश्य

यह इकाई प्राचीन भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं जैसे कि सभा, समिति, विदथ और पौर जनपद के उदय, विकास एवं उनकी प्रकृति एवं गतिविधियों से सम्बद्ध है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप –

- प्राचीन भारत में इनकी उत्पत्ति के कारणों के बारे में जान पाऐंगे।
- इनकी प्रकृति, स्वरूप तथा इनकी गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- इन संस्थाओं की कार्य प्रणाली एवं अधिकार क्षेत्रों की व्याख्या कर पाऐंगे।
- इनके परस्पर संबंध, समानताओं तथा भेद की पहचान कर पाऐंगे।
- आधुनिक प्रजातान्त्रिक सभाओं, परिषदों व संस्थओं से इनकी तुलना कर सकेंगे।
- इनके प्राचीन भारत में आस्तित्व की अनिवार्यता की विवेचना कर पाऐंगे।

8.2 सभा, समिति, विदथ–एक सामान्य परिचय

वैदिक साहित्य में सभा, समिति तथा विदथ नामक तीन प्रमुख एवं लोकप्रिय संस्थाओं के आस्तित्व का विवरण मिलता है। इन तीनों संस्थाओं का सटीक अर्थ तय कर पाना कठिन है। ऐसा सर्वथा असंभव प्रतीत नहीं होता कि इनका अर्थ भिन्न समय में तथा भिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग रहा होगा। आधुनिक विद्वानों में भी इस विषय पर मतऐक्य नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ, लुडविग का मानना है कि सभा ऊपरी सदन जैसा था जहाँ कुलीन, धनाड्य तथा पुरोहितों का प्रतिनिधित्व एवं प्रभुत्व था, जबकि समिति निचले सदन की तरह थी जहाँ सामान्य नागरिकों का प्रतिनिधित्व था। दूसरी ओर ज़िम्मर का कहना था कि सभा ग्रामीणों की प्रतिनिधि संस्था थी और पूरी जनजाति की केन्द्रीय संस्था थी। इनसे पृथक हिलब्रेन्ट का विचार था कि सभा एवं समिति समान ही थीं, समिति संस्था का नाम था जबकि सभा वह स्थान था जहाँ समिति के सदस्य मिलते थे। के. पी. जायसवाल के मतानुसार समिति कदाचित अथवा संभवतया एक राष्ट्रीय सभा थी जबकि सभा उसकी स्थायी सदस्यों वाली संस्था थी। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन संस्थाओं के अर्थ को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है तथा तारतम्य की कमी पाई जाती है। इन परिस्थितियों में अगले कुछ अनुच्छेदों में तीनों समितियों के पृथक शीर्षकों के अधीन इन संस्थाओं की व्याख्या का प्रयास किया गया है।

8.3 सभा

वैदिक आर्यों की संस्थाओं में सभा का प्रमुख स्थान था। इस संस्था के माध्यम से उनके राजनीतिक जीवन के संचालन में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता था। सभा की उत्पत्ति विराट पुरूष से बतायी गयी है। इसी प्रकार अथर्ववेद के एक प्रसंग में व्रात्य अथवा आदि पुरूष से सभा की उत्पत्ति बतायी गयी है। इससे यह विदित होता है कि सभा उतनी ही पुरातन है जितने पुरातन प्रजापति, विराट पुरूष अथवा व्रात्य है।

सभा का शाब्दिक अर्थ है– वह समूह जिसमें सब लोग मिलकर प्रकाशमान हो।

सभा के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद है। **लुडविग** का मत है कि सभा में पुरोहित, धनिक आदि लोग सम्मिलित होते थे और समिति में साधारण लोग रहते थे।

जिमर का अनुमान है कि सभा ग्राम संस्था थी और समिति पूरे जन की केन्द्रीय परिषद थी।

हिलेब्रांड का मत है कि सभा और समिति एक ही थी, सभा उस स्थान का नाम था जहाँ लोग एकत्र होते थे और समिति एकत्रित समूह को कहते थे।

लेकिन अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है अतः हिलेब्रांड का मत अमान्य हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि सभा समिति के अधिवेशन स्थल का स्थान नहीं वरन् अलग संस्था थी।

ऋग्वेद की प्रारंभिमक ऋचाओं में वर्णित है कि सभा में बन्धुओं की ही चर्चा होती थी।

ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि जुआरी लोग सभा में एकत्र होकर किस प्रकार जुए में सब कुछ खो बैठने पर बाद में अपनी स्त्री और अपने को भी दांव पर लगा देते थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सभा और जुए के इस संयोग का वर्णन मिलता है।

सभा के सदस्य, योग्यता एवं अधिकार –

सभा का शाब्दिक अर्थ भाषित अथवा प्रकाशित होता है। वैदिक सभा का तात्पर्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के एकत्र होने का स्थान है। इससे ज्ञात होता है कि सभा वैदिक आर्यों की एक ऐसी संस्था थी जिनमें महत्वपूर्ण पुरूष एकत्र होते थे। सभा का प्रत्येक व्यक्ति सभेय, सभासद अथवा सभासीन कहा जाता था। उच्च वंश से सज्जन तथा वृद्ध पुरूष सभा के सदस्य होते थे।

वैदिक संहिताओं के उल्लेख से ज्ञात होता है कि सभा के सदस्यों को यशस्वी, वर्चस्वी, वाक्पटु, सुवक्ता, न्यायपरायण, गम्भीर, स्पष्टवादी, सारयुक्त वचन बोलने में कुशल, प्राणिसाल का पित्रवत हितेच्छु तथा प्रजापालक और इन्द्र की विभूतियों को धारण करने वाला होना चाहिए। वैदिक सभा के सदस्यों के अधिकारों के विषय में वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अथर्ववेद के एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि सभा का सदस्य होने के नाते सभा में बैठने के लिए उसे समान आसन ग्रहण करने का अधिकार था।

वैदिक संहिताओं में सभा के अध्यक्ष अथवा सभापति की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।

यजुर्वेद में जहाँ राज्य के अन्य पदाधिकारियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गयी है वहीं सभा के सभापति के प्रति भी इसी रूप में विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त आदेश दिया गया है। **तैत्तीरीय ब्राह्मण में सभा के कार्य संचालन करने वाले को सभापाल कहा गया है।** यजुर्वेद से प्राप्त संकेतों से ज्ञात होता है कि सभापति का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था। सभा की बैठक इसी सभापति की अध्यक्षता में होती थी। सभापति की नियुक्ति, अधिकार तथा इसकी योग्यता आदि के विषय में उल्लेख नहीं मिलते।

सभा के कार्य

विभिन्न उल्लेखों द्वारा ज्ञात होता है कि सभा का प्रधान कार्य विवाद–ग्रस्त विषयों पर विचार करना एवं तद्नुसार निर्णय करना था। सभा में उस व्यक्ति को शरण मिलती थी जिनके जीवन, सम्पत्ति, स्वतंत्रता अथवा सम्मान तथा प्रतिष्ठादि पर आक्रमण होता था। ऐसी परिस्थिति में सभा पीड़ित व्यक्ति के अधिकार की रक्षा करती थी और इसके अपहत अधिकार को पुनः दिलाने का प्रयत्न करती थी।

सभा का सर्वप्रमुख कार्य था न्याय दिलाना। **डॉ0 जायसवाल** का मानना था कि सभा का प्रस्ताव सभी लोगों पर बाध्य और अलंघनीय था। इस रूप में सभा आधुनिक Supreme Court थी। शुक्ल यजुर्वेद के पुरूषमेध में सभागार अथवा सभा की ओर जाने वाले को न्याय का आखेट कहा गया है।

शुक्ल यजुर्वेद में इस बात का भी उल्लेख है कि सभा में किए हुए अपराधों के लिए लोग पश्चाताप करते हैं।

जातकों में कहा गया है कि जिस सभा में अच्छे लोग (संत) न हों, वह सभा ही नहीं है, जो लोग धर्म (न्याय) की बात नहीं करते, वे अच्छे आदमी नहीं हैं, जो लोग राग द्वेष आदि को छोड़कर न्याय की बातें करते हैं वही अच्छे आदमी हैं।

इसके अतिरिक्त सभा राजनैतिक विषयों पर भी चर्चा करती थी एवं सामाजिक कार्य कलापों में भी वैचारिक रूप से भाग लेती थी।

सभा की कार्य पद्धति

ऐसी प्रतीत होता है कि वादी अपने वाद को सभा के समक्ष प्रस्तुत करता था कि सभा के सदस्य पिता के समान इसकी रक्षा करे। अथर्ववेद में सभा के सदस्यों से प्रार्थना की गयी है कि सभा के सदस्य अपना मन सभा में प्रस्तुत प्रस्ताव अथवा वाद पर विचार करने में लगाये। यदि उनका मन इधर–उधर भटक जाता है तो अपने इस प्रकार भटके हुए मन को खींचकर अपने समक्ष प्रस्तुत विषय अथवा प्रस्ताव में लगा दें। इससे ज्ञात होता है कि सभा के समक्ष प्रस्तुत विषय की पूर्ण विवेचना की जाती थी। अथर्ववेद में सभा के सदस्यों के लिए सर्व सम्मान की प्राप्ति हेतु की गयी प्रार्थना से स्पष्ट है कि सभा में इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। उनके द्वारा दिये गये निर्णय सर्वसम्मति से हों। अथर्ववेद के एक प्रसंग में बहुमत के आधार पर निर्णय करने की प्रार्थना की गयी है। जिससे स्पष्ट है कि सर्वसम्मति न होने पर बहुमत का आश्रय लिया जाता था। सभा में प्रस्तुत विषय पर उसके प्रत्येक सदस्य को अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार था। जिस समय सभा का कोई सदस्य प्रस्तुत विषय पर अपना विचार व्यक्त करता था इस अवधि में सभा के दूसरे सदस्यों को बोलने का अधिकार नहीं था। अथर्ववेद में कहा गया है, जब मैं सभा में भाषण करूँ तक तक तू भाषण मत कर। मेरे भाषण की समाप्ति के उपरान्त तू भाषण कर।

कालान्तर में सभा का न्यायिक स्वरूप अधिक महत्वपूर्ण हो गया। डॉ0 जायसवाल के अनुसार सभा का एक कार्य निश्चित रूप से स्पष्ट है कि सभा राष्ट्रीय न्यायालय के रूप में कार्य कर करती थी।

8.4 समिति

समिति की कार्य प्रणाली –

ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि उनकी समिति एकमत हो। समिति के सदस्यों के चित्त उनके मन और उनके द्वारा निर्मित मन्त्र की उनकी प्रक्रिया में एकमत रहे। इससे संकेत मिलता है कि समिति में सार्वजनिक समस्याओं का प्रस्तुतीकरण होता था और समिति इन पर गंभीर विचार करती थी। वाद–विवाद विवेचन के उपरान्त प्राप्त निर्णय को यथासंभव कार्यान्वित किया जाता था। अथर्ववेद में एक प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि समिति के सदस्य

के चित्त, उनके द्वारा निर्णीत मन्त्र में सर्वसम्मत रहे अर्थात् समिति के सदस्यों में निरन्तर सुमति रहे। समिति में सार्वजनिक समस्याओं पर गभीर विचार करके उनकी सूक्ष्म विवेचना की जाती थी। समिति के सदस्य प्रस्तुत विषय पर अपना मत व्यक्त करते थे। प्रत्येक वक्ता यह चाहता था कि समिति में अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध कर दिखाया है और कोई मेरा प्रतिवाद न कर सके। कभी–कभी दलबन्दी की तीव्रता होने पर गरमागरम बहस हो जाती थी और हाथापाई की नौबत भी आ जाती रही होगी।

विवेचना हो जाने के उपरान्त प्रस्ताव बहुमत अथवा सर्वसम्मति से पारित किया जाता था और इसे सामर्थ्यानुसार कार्यान्वित किया जाता था।

समिति के कार्य

डॉ0 एन0सी0 बन्धोपाध्याय का मत है कि राजा से इसका गहरा सम्बन्ध था। महत्वपूर्ण अवसरों जैसे राज्याभिषेक, युद्ध के समय और आपत्तिकाल में इसे बुलाया जाता था। संभवतः राजा को निर्वाचित करने और उसके कार्यों को स्वीकृति देने को समिति बुलाई जाती थी।

अथर्ववेद में उद्धृत है– **चास्मै समितिः कल्पतो** के आधार पर डॉ0 जायसवाल का कहना है कि समिति का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजा चुनना था। समिति पदच्युत राजा का पुनः निर्वाचन कर सकती थी। इस प्रकार राजकीय संघटन की दृष्टि से यह समिति सर्वप्रधान संस्था होती थी। ऋग्वेद में समान समिति और राज्य की समान नीति या मंत्र के लिए प्रार्थना की गयी है और यह भी प्रार्थना की गयी है कि सब लोग एकचित्त होकर एक ही व्रत या उद्देश्य रखे। अथर्ववेद में भी समिति में एकता के लिए प्रार्थना की गयी है। इससे प्रकट होता है कि राज्य सम्बन्धी विषयों अथवा मंत्रों पर समिति में चर्चा होती थी। इन कार्यों के अतिरिक्त समिति के कतिपय अन्य कार्य भी थे। राज्य के नीति का निर्धारण, प्रजा कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओं पर गम्भीर एवं विवेचनात्मक प्रणाली द्वारा चिन्तन करना तथा इन पर निर्णय करना। समिति राजा पर नियंत्रण का कार्य भी करती थी।

ब्राह्मण युग आते–आते समिति लुप्त सी हो गयी और सभा राजसभा के रूप में परिवर्तित हो गयी। उपनिषद काल में यह पुनः प्रकट होती है, किन्तु अपना राजनीतिक रूप राजसत्ता को रवोकर। सम्राट में केन्द्रीभूत होने के कारण सभा और समिति का समाप्त होना स्वाभाविक ही था।

अथर्ववेद में सभा समिति को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है। इस अध्ययन पर इनके सापेक्षिक महत्व के सम्बन्ध में डॉ0 सालोटेर ने कहा है–

The statement in the Atharvaveda that the Sabha and Samiti were the two daughters of Prajapati's. Clearly Shows that we have to give the same importance to both, although it cannot be made out what exactly was their relative importance **- Dr. B. A. Saletore**

सभा और समिति के कार्यों का समन्वय

प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में प्रशासन तथा राजनैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित कतिपय लोकप्रिय तथा जन प्रतिनिधित्व युक्त संस्थायें विद्यमान थी। वैदिक काल से पूर्व प्रागैतिहासिक युग में उदित और विनष्ठ सिन्धु सभ्यता का जो रूप तत्कालीन प्रमाणों से उभरकर सामने आता है उसके सन्दर्भ में इस संभावना से इंकार नहीं दिया जा सकता कि उस समय में भी नगर आदि की व्यवस्था के लिए अनेक महत्वपूर्ण संस्थायें रही होंगी। परन्तु इस विषय में प्रमाणों का अभाव है। संस्कृत साहित्य में संस्थानों के लिये अनके नाम हैं जिनमें सभा, समिति, विदथ, परिषद एवं संग्राम आदि प्रमुख हैं।

वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन प्रायः सर्व राज्यों में लोक सभायें होती थी, जो राजाओं पर नियंत्रण का कार्य करती थीं। ऋग्वेद काल का औसत राज्य ग्रीस के नगर राज्यों की भाँति विस्तार में कुछ वर्गमील से अधिक न थी। इनकी राजधानी इनमें अन्तर्भूत ग्रामों से कुछ विशेष बड़ी न होती थी। हर ग्राम में जनता की सभा होती थी और राजधानी में सम्पूर्ण राज्य की केन्द्रीय लोकसभा होती थी जिसका नाम समिति था।

सभा और समिति का वैदिक काल में बड़ा ऊँचा स्थान था। एक सूक्त में उन्हें प्रजापति की जुड़वा दुहितायै कहा गया है।

सभा चां सां समितिश्चावतां प्रजापते र्दुहितरी संविदाने

इससे मालूम होता है कि लोग समझते थे कि ये सनातन ईश्वर निर्मित संस्थायें हैं और यह जानते थे कि यदि समाज के आदिकाल से नहीं तो कम से कम राजनीतिक जीवन के प्रार्दुभाव के साथ ये भी अस्तित्व में आयीं।

डॉ0 अल्टेकर का मत है कि इसकी सम्भावना है कि वैदिक भारत के विभिन्न भागों में अथवा विभिन्न समय या शताब्दियों में सभा का वर्णन है। इससे प्रकट होता है कि सभा मुख्यतः गाँव की सामाजिक गोष्ठों थी, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर ग्राम व्यवस्था से संबंध रखने वाले छोटे–मोटे मामलों पर भी इसी में विचार कर लिया जाता था। आपसी झगड़े निपटाना एवं गाँव की रक्षा का प्रबंध करना ही इसके मुख्य विषय थे। इस दृष्टि से सभा ग्राम की संस्था थी और इनकी संख्या वैदिक काल में जितने में भी ग्राम थे उतनी थी।

8.5 विदथ

शब्द संरचना विज्ञान के अनुसार विदथ 'विद' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका शब्दिक अर्थ है जानना और जो संभवतया किसी धार्मिक अथवा याज्ञिक अनुष्ठान के आयोजन का संकेत देता है – जिस समारोह अथवा अनुष्ठान के निष्पादन में धार्मिक संस्कारों को यथोचित करने हेतु अप्रतिम ज्ञानी व विद्वान लोगों की आवश्यकता हो। स्पष्टतया विदथ एक बड़ी सभा थी जो संभवतया समग्र जनजाति का प्रतिनिधित्व करती थी। ऐसा इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि इस परिप्रेक्ष्य में विदथ की बैठकों में लोगों के बड़े समूहों में व्यवस्थित किये जाने तथा सामूहिक नाचने गाने के संदर्भ उपलब्ध हैं। महिलाओं की वैदिक अनुष्ठानों में सक्रिय प्रतिभागिता रहती थी तथा विदथ के आयोजनों में उन्हें विशिष्ठ स्थान प्राप्त था। यद्यपि कुछ क्वचित् व दुर्लभ गद्यांशों में राजा के विदथ की बैठकों में उपस्थित होने के संदर्भ मिले हैं तथापि इस संस्था को सक्रिय रूप से प्रशासनिक क्रियाकलाप में भागीदारी के लिए नही जाना जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि विदथ एक गणमान्य लोगों की सामाजिक सभा व संस्था थी जिसका उद्देश्य सांस्कृतिक व धार्मिक आयोजनों एवं अनुष्ठानों को करवाना था। परन्तु इसके सदस्यों की संख्या बहुत थी तथा इसका स्वरूप जनजातीय था। इसके महत्व को इसी से समझा जा सकता है कि ऋग्वेद में इसका विवरण 122 बार आया है। यह सभा धर्मेत्तर, आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक विषयों पर परिचर्चा करती थी।

8.6 पौर–जनपद

प्राचीन भारत में जनपदों का स्वरूप प्राचीन यूनान तथा इटली के नगर–राज्यों के समरूप था। गोपति से भूपति के रूपांतरण में भारत में अनेक छोटे जनपदों का उदय हुआ। अधिकांश जनपदों में राजतन्त्रीय शासन व्यवस्था थी परन्तु कुछ जनपद गणतांत्रिक भी थे। वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में एक जनपद के सदस्य (निवासी) प्रायः सजात तथा सनाभि

होते थे। किन्तु जनपदों के आकार तथा क्षेत्रफल में वृद्धि के साथ–साथ ग्रामों के अतिरिक्त नगरों का भी उद्‌भव हुआ। आरम्भ में प्रत्येक जनपद में केवल एक ही नगर की स्थापना या निर्माण हुआ जो उस जनपद की राजधानी भी बना। परिणामस्वरूप एक जनपद के दो भाग हो गए – नगर या पुर तथा जनपद। प्रशासनिक दृष्टि से नगर बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि वह राजनीतिक सत्ता का केन्द्र था।

जनपदों के महाजनपद बनने पर उनमें 'सजात–विशः' के अतिरिक्त ऐसे निवासी भी हुए जो मूलतः जनपद के नही थे परन्तु नागरिक होने के कारण उसके प्रति भक्ति भाव रखते थे। साथ ही जनपदों में अब एक से अधिक नगर स्थापित होने लगे जिस कारण राजधानी के लिए अब केवल 'पुर' शब्द का प्रयोग होने लगा। इसी के साथ महाजनपदों की शासन प्रणाली में भी परिवर्तन आया तथा दो नयी संस्थाओं का निर्माण हुआ जिन्हें प्राचीन साहित्य में 'पौर–जनपद' की संज्ञा दी गई। परन्तु प्रारम्भ से ही इस आधार पर कि कतिपय स्थानों पर पौर तथा जनपद को एक वचन में ही प्रयुक्त किया गया है तथा कई ग्रन्थों तथा शिलालेखों में पौर जनपद शब्द का प्रयोग क्योंकि पुर तथा जनपद के निवासियों के अर्थ में नहीं हुआ है, इसलिए इसके निहित अर्थ को लेकर विवाद रहा है। अनेक विद्वान 'पौर' से पुर के निवासियों एवं जनपद से शेष जनपद के निवासियों का आशय लेते रहे हैं। के. पी. जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'द हिन्दू पॉलिटी' में इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या की है। उन्होंने 'पौर' और जनपद को दो सभाओं की संज्ञा दी जो प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकती थीं। वे राजा को पदच्युत कर सकती थी, उसे बदल सकती थीं, राजा द्वारा नए कर लगाए जाने पर उसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत कर सकती थीं, सार्वजनिक घोषणाऐं उनके अनुमोदनोपरान्त होती थीं, जिनके आक्रोश से प्रान्तीय शासन अस्त–व्यस्त हो सकता था, जो राजा के विरूद्ध कानून बना सकती थी और जिनके विरोधी होने पर राजशासन असंभव हो जाता था।

इस दृष्टिकोण से पुर तथा जनपद से अभिप्राय सुनिश्चित, सुव्यवस्थित शासन संस्थाओं व सभाओं से है। इस ओर इशारा करने वाले साक्ष्य हमें प्राचीन–भारतीय ग्रन्थों व साहित्य से प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उदाहरणार्थ – रामायण में राजा दशरथ ने अपने पुत्र राम के राज्याभिषोक के लिए जो परिषद् बुलाई उसमें 'पौर–जनपद जन' भी सम्मिलित हुए। एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि पौर–जनपद तथा नैगम (व्यापारियों के संगठन का प्रधान) अनुनय पूर्वक राज्याभिषेक की प्रतीक्षा में करबद्ध खड़े थे। इससे स्पष्ट है कि पौर–जनपद सामान्य

निवासी न होकर एक संस्था के पदासीन सदस्य थे। महाभारत के शान्तिपर्व में भी यह विधान दिया कि दुविधा अथवा संकटकाल में राजा को संश्रित एवं उपश्रित सभी पौर–जनपदों के प्रति अनुकम्पा प्रदर्शित करनी चाहिए। इसी ग्रन्थ में राजा द्वारा पौर–जनपदों से धन की मांग का संदर्भ भी आया है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में भी राजा को समाहर्ता के माध्यम से पौर–जनपदों से भिक्षा रूप में एकमुश्त धन मांगने का प्रावधान निर्दिष्ट हुआ है। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या में पौर–जनपदों के कार्यों के लिए पृथक समय देने की व्यवस्था की है। स्मृतियों तथा सूत्र ग्रन्थों में भी पौर–जनपद संस्थाओं की सत्ता की ओर इंगित करने वाले अनेकों संदर्भ विद्यमान हैं। मनु, बृहस्पति तथा याज्ञवल्क्य ने जनपदों गणों अथवा संघों का उल्लेख किया है। गौतम धर्मसूत्र में पौर (जो पौर सभा का सदस्य था) एवं वशिष्ठ धर्मसूत्र में नागरों (पौरों) का वर्णन मिलता है। स्मृतियों तथा सूत्रों में उल्लेखित देशसंघ पौर–जानपद ही हैं इसमें संशय नहीं है। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में तक्षशिला की पौर–सभा का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी ग्रन्थ में आगे तिष्यरक्षिता द्वारा पौरों के माध्यम से राजकुमार कुणाल को अंधा करवाने का वृतांत है। अशोक के शिलालेखों में भी जनपद तथा नागरक (पौर) संस्थाओं की सत्ता का प्रमाण मिलता है। अशोक के ही धौली शिलालेख में नगलजनस (नगर जनस्य) तथा नागलक (नागरक) नामक कर्मचारियों का वर्णन मिलता है। रूद्रदमन प्रथम के गिरनार शिलालेख में पौर जानपदजन के अनुग्रह के लिए बांध के निर्माण का उल्लेख है तो वहीं जातकों में भी नैगम तथा जानपद का विवरण है। मृच्छकटिकम् में एक दुराचारी राजा, जिसने अपने पूर्ववर्ती शासक को अपदस्थ किया था, उसके इस पूर्ववर्ती शासक के भाई द्वारा पौरों की सहायता से पदच्युत कराए जाने का उल्लेख मिलता है। दण्डी के दशकुमारचरितम् में राजा की शक्ति एवं संरक्षण के लिए उसका 'पौर जानपदाः' के प्रति मैत्री सम्बन्ध अपरिहार्य माना गया। इस प्रकार प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का आकलन करने पर हम पाते हैं कि पौर जानपद नगरों एवं जनपदों के गणमान्य व्यक्तियों का समूह अथवा संस्था थी। यद्यपि अल्तेकर ने इस मत का घोर विरोध किया है तथापि जायसवाल समेत अन्य विद्वानों ने पौर–जनपद का अर्थ सुसंगठित प्रशासनिक संस्था व उसके सदस्यों के रूप में ही लिया है।

8.7 सारांश

इस प्रकार हम पाते हैं कि राज्यों की प्रशासनिक इकाइयों के रूप में उत्पत्ति एवं विकास के साथ ही कई नवीन राजनैतिक संस्थाओं का जन्म हुआ। संस्था, समिति, विदथ तथा बाद में चलकर पौर–जनपद संगठित संस्थाऐं थी जिनका न केवल राजनीति में हस्तक्षेप था अपितु कुछ परिपेक्षों में राजा भी उन पर निर्भर था तथा उनके सदस्यों का आदर करते हुए उन्हें संतुष्ट रखने का भरसक प्रयास करता था बड़े राज्यों व साम्राज्यों के उद्‌भव के साथ इन संस्थाओं की अवस्था तथा प्रकृति में बदलाव होते रहे तथा इनमें से कुछ (जैसे कि विदथ) कालान्तर में अप्रासंगिक अथवा विलुप्त हो गई। परन्तु इन सभी ने विभिन्न काल खण्डों व भू भागों में राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्था के विकास में एकल अथवा संयुक्त में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

8.8 बोध प्रश्न

1-सभा–समिति के बारे में आप क्या जानते हैं?

2-विदथ की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

3-पौर जनपद से क्या तात्पर्य है?

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 2016, प्राचीन भारत की शासन–पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. चट्टोपाध्याय, बी. डी., 2014. एसेज इन एन्शियंट इंडियन इकनोमिक हिस्ट्री, सेकंड एडिशन, प्राइमस बुक्स, नई दिल्ली।
3. शर्मा, आर. एस. 1983, मटेरियल कल्चर एंड सोशल फोर्मेशन्स इन एन्शियंट इंडिया, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. शर्मा, आर. एस., 1968. आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीटूशन्स इन एन्शियंट इंडिया, नई दिल्ली।
5. प्रसाद, बेनी, 1968. थ्योरी ऑफ गोवेर्मेंट इन एन्शियंट इंडिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
6. अल्टेकर,ए.एस., 1958. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियंटइंडिया, वाराणसी।

7. सेन,ए. के. 1926, स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन पोलिटिकल थॉट, कलकत्ता।
8. जायसवाल, के. पी., 1924, हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता।
9. घोषाल,यू. एन.,1923, ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीस, कलकत्ता।
10. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वॉल्यूम 2 एंड 3, पुणे।

इकाई–9 राजतंत्र : मूल, दैवीय अधिकार, नियंत्रण और संतुलन

इकाई की रूपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 राजतंत्र की परिभाषा

9.3 राजपद की दैवीय अवधारणा

9.4 राजा का देवत्व सम्बन्धी अधिकार

9.5 राजपद पर नियंत्रण

9.6 राजपद का संतुलन

9.7 सारांश

9.8 बोध प्रश्न

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय शासन प्रणाली में सर्वाधिक प्रभाव नृपतन्त्र का ही था। नृपतन्त्र में शासन का संचालन केवल एक व्यक्ति अन्य लोगों यथा मंत्रिमण्डल की सहायता से चलाता था, जिसे राजा या नृप कहा जाता था।

9.1 उद्देश्य

यद्यपि प्राचीन भारत में राजतंत्र के साथ–साथ अन्य प्रकार के भी राज्य थे, लेकिन सर्वाधिक बोल–बोला राजतंत्र का ही था। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से हम राजतंत्र, उसके प्रकार और उसकी कार्य–प्रणाली का अध्ययन करेंगे।

9.2 राजतंत्र की परिभाषा

मैसन आडर्सेल ने कहा है – राजतन्त्र मानवीय संस्था है और दैवी अधिकारों के लिए दावा भी नही करता है। केवल राजाओं तथा देवताओं के मध्य सादृश्यता विद्यमान है।

Kingshop is a purely human institution and claims divine right. There is an analogy between god and kings – Massen Aadersal.

9.3 राजपद की दैवीय अवधारणा

प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुशीलन से उद्घोषित होता है कि राजा देवता था। यह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिरूप था। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी राजा के देवत्व सम्बन्धी धारणा विद्यमान थी।

प्राचीन असीरियन एवं बेबीलोनियन सभ्यता में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि कहा गया है। यूनान में राजा को जीयस का वंशज माना जाता था। मिश्र में राजा को सूर्य का पुत्र मानकर फेराहों के रूप में उसकी पूजा की जाती थी। रोम में सम्राट की मृत्यु के बाद उन्हें देवता घोषित कर दिया जाता था।

पूर्व वैदिक युग में राजा के देवत्व सम्बन्धी धारणा का विकास नहीं हुआ था। अथर्ववेद में एक उत्तरकालीन सूक्त में राजा परिक्षित मर्त्यों के देवता कहे गये हैं– (यो देवो मर्त्यान् संधि)

पुरूकुत्स को संभवतः इस कारण अर्ध्वदोष कहा गया है क्योंकि उनकी विधवा माँ ने उनको इन्द्र और वरूण के विशेष प्रसाद से प्राप्त की थी।

ए0एस0 अल्तेकर ने कहा है–''इस प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि उस युग में देवत्व की भावना मान्य थी।''

डॉ0 राधाकृष्ण चौधरी का विचार है कि– पूर्व वैदिक युग में राजा के देवत्व को सिद्ध भी किया जा सकता है। यजुर्वेद में राजा को वैष्णवन अर्थात् राजा को विष्णु की उपाधि दी गयी है। इस प्रकार डॉ0 चौधरी राजा के देवत्व को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। धार्मिक विधि और नियमों के उत्तरोत्तर बढ़ने वाले ब्राह्मण काल में ऐसा वातावरण पनपने लगा, जिसमें राजा के देवत्व की भावना पनप सकती थी।

इसी काल में राजा को इन्द्र की उपाधियाँ प्रदान की जाने लगी। राज्याभिषेक भगवान् पूषन और अश्विनी कुमारों के द्वारा होता है। ऐसा माना जाने लगा कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में देवता का वास हो जाता है। अभिषेक के समय अग्निदेव एवं बृहस्पति देव के राजा के शरीर में प्रवेश करने का विश्वास किया जाता था।

शततथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण से भी स्पष्ट होता है कि इसी युग में राजा के साथ–साथ पुरोहित अपने को भी देवता कहने लगे। उन परिस्थितियों और कारणों से ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जो राजा में देवत्व की भावना के विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल था।

रामायण एवं महाभारत भी राजा के देवत्व को स्वीकार करते है।

रामायण के अनुसार– राजा मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर विचरण करता है अतः उसकी कथा, निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि राजा देवता हैं।

रामायण मे राजा को इन्द्र का चौथा भाग बताया गया है–

इन्द्रस्यैव चतुर्थः भागः

महाभारत के अनुसार – यह जानकर कि राजा मनुष्य है उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।

कौटिल्य ने भी राजा को परमदेव कहा है। कौटिल्य के अनुसार राजा यम और इन्द्र का स्थानापन्न होता है, क्योंकि दया और कोश राजा में विद्यमान होते हैं। जो राजा का अपमान करता है, उसे दैवीय दण्ड प्राप्त होता है। कौटिल्य ने राजा के देवत्व का प्रचार जनता में राजा के प्रति भक्ति एवं विश्वास पैदा करने के लिए किया।

अशोक अपने को देवानाम्प्रिय कहता था। प्रथम सदी में कुषाण साम्राज्य की स्थापना से राजा के देवत्व सम्बन्धी धारणा को और बल मिला। कुषाण अपने को दैवपुत्र कहते थे। इनके पूर्वजों की मूर्तियॉ देवालयों में प्रतिष्ठित की जाती थी। संभवतः कुषाणों ने विदेशी होने के कारण इसलिए राजा के देवत्व सम्बन्धी धारणा को प्रोत्साहन प्रदान किया जिससे कि जनता में विद्रोह की स्थिति धर्म के आधार पर न बने।

स्मृतियों में भी राजा को देवता कहा गया है। मनु नें मनुस्मृति के सातवें अध्याय में कहा है कि– विधाता ने इन्द्र, मरूत, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र एवं कुबेर के प्रमुख अंशों से युक्त राजा की रचना की।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।

तस्मादभि अवत्येष सर्वभूतानि तेजस।। 7/5 मनुस्मृति

अर्थात जैसे इन इन्द्रादि देवताओं के अंशों से राजा उत्पन्न होता है, वैसे ही वह अपने तेज से सब प्राण्यिों को अपने वश में रखता है अर्थात् सभी जीवों में आगे बढ़ जाता है।''

मनु ने पुनः कहा है कि– बालक राजा का भी यह सोचकर कि वह भी मानव ही है, अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह नर रूप में देवता ही हैं।

वात्मोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

देवता लेषा नररूपेण तिष्ठति।। 7/8 मनुस्मृति

अग्नि पुराण में आया है कि राजा सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, वरूण, अग्नि कुबेर, पृथ्वी एवं विष्णु के कार्य करता है। अतः उसमें इसके अंश पाये जाते है।

बौद्ध धर्म में भी राजा को सम्भुतिदेव कहा गया है।

गुप्त काल में राजा के देवत्व की भावना को सर्वाधिक बल मिला। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसे अचिन्त्य (ईश्वर) पुरूष कहा गया है। प्रशुधारी प्रकार की स्वर्ण मुद्रा में समुदगुप्त को

वृतान्त (यम) कहा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय को भी विक्रमादित्य, परमभागवत आदि उपधियॉ प्रदान की गयी है। स्कन्दगुप्त को कार्तिकेय कहा गया है। इसी काल में ब्राह्मण अपने को भूदेव कहने लगे। संभवतः यह गुप्तों द्वारा प्रचलित अग्रहार दान प्रथा के कारण हुआ। अतः वे राजा के भी देव उपाधि से कैसे वंचित रख सकते थें, क्योंकि राजा ही तो उनके विशेषाधिकारों का संरक्षक था।

गाहड़वाल वंश के चन्द्र एवं गोविन्द चन्द्र राजा अपने अभिलेखों में क्रमशः ब्रह्मा एवं हरी के अवतार बतलाए गए हैं। पृथ्वीराज विजय में कवि ने अपने वर्णसूत्र राजा को रामचन्द्र का अवतार कहा है।

अग्नि पुराण, पद्म पुरायण, मारकण्डेय पुराण, मत्स्य पुराण एवं नारदस्मृति में तो राजा को साक्षात् ही देवता कहा गया है।

लेकिन अधिकांश स्मृतियों एवं पुराणों में केवल राजा और देवताओं के कार्यों की समता का ही उल्लेख है किन्तु राजा को देवता नहीं कहा गया है।

9.4 राजा का देवत्व सम्बन्धी अधिकार

हिन्दू ग्रन्थकारों ने राजपद को दैवीय बताया है, राज–व्यक्ति को नहीं। ईश्वरणीत वर्णाश्रम धर्म प्रजा से पालन करना राजा का कर्तव्य था। समाज में ऐसी धारणा थी कि यदि राजा को दैवी माना जाय तो यह कर्तव्य प्रजा अच्छी तरह से कर सकती है किन्तु यदि राजा अधर्मशील हो, तो देवत्व के सहारे वह अपने दुराचार या जुल्म का समर्थन नहीं कर सकता था। उसे धर्मशास्त्रकारों ने राक्षस का अवतार माना है।

लेकिन यूरोप में राजा के देवत्व का सिद्धान्त मुख्यतः निरंकुश राजसत्ता के समर्थन के लिए ही प्रतिपादित किया गया था। प्राचीन भारत में नारद ही एकमात्र ऐसे ग्रन्थकार हैं जिन्होंने यह कहा है कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है, क्योंकि उसमें देवता का अंश ळें लेकिन यह मत सर्वमान्य नहीं था। दुष्टराजा वेण अपने देवत्व की दुहाई देकर बचना चाहता था, किन्तु क्रुद्ध ऋषियों ने उसे मार डाला। प्राचीन भारत में केवल अच्छे और धार्मिक राजा ही देवतुल्य माने जाते थे।

राजा के देवत्व के पूर्ण समर्थक मनु भी यह मानते हैं कि धर्म से विचलित होने पर राजा का नाश हो जाता हैं। मनु कहते हैं देवत्व का अर्थ यह नहीं है कि राजा सब दोषों से

परे है। राजा को सर्वदा काम, क्रोध और लोभ से बचना चाहिए। राजा में देवत्व का अर्थ यह भी नही था कि दुष्ट या अनीतिमन् राजा की आज्ञाओं का बिना मीन–मेख निकाले पालन करना ही जरूरी था। प्राचीन भारतीय विचारक अयोग्य या दुष्ट राजा को देवत्व का अधिकारी कभी नहीं मानते। अन्यायी राजा को वे राक्षस मानते हुए कहते है कि प्रजा को उसके विरूद्ध विद्रोह करने का पूर्ण अधिकार है।

प्राचीन भारत में राजा के देवत्व ने उसे देवों के समान प्रजाहितकारी एवं धर्मपरायण बनाकर राजतन्त्र को कल्याणकारी स्वरूप प्रदान किया।

9.5 राजपद पर नियंत्रण

प्राचीन भारतीय राजा न तो देवत्व का दावा कर सकता था और न ही इसे कोई विशेषधिकार प्राप्त था। देवत्व की निर्बलता चिन्तकों के विचारों में ध्वनित होती है, जब वें निरंकुश राजा को पदच्युत और मार देने को न्याय संगत करार देते हैं।

9.6 राजपद का संतुलन

प्राचीन भारत में राजा ने कभी असीम शक्ति का उपयोग किया ही नहीं, बल्कि उसने स्वयं को एक उच्च श्रेणी व जनसेवक समझा गया।

9.7 सारांश

किसी भी शासन–प्रणाली की सफलता–असफलता शासन प्रमुख के व्यक्तिगत गुणों, समय एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है। भारतीय राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में यह कार्य सहस्त्राब्दियों तक सफलतापूर्वक किया गया। इस प्रणाली में राजा, उसका, मंत्रिपरिषद, राज्य के अन्य शासन प्रणाली के अंग आदि सबने मिलकर भारतीय राजतन्त्र को सफल बनाया।

9.8 बोध प्रश्न

1. भारत में राजपद क्या निरंकुश था?
2. भारत में राजा के देवत्व का परीक्षण कीजिए।
3. राजतंत्र के गुण–दोष की विवेचना कीजिए।

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धतियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2013
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
3. जायसवाल, काशी प्रसादः हिन्दू राजतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. गोपाल, लल्लन जी : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. त्रिपाठी, हरिहर नाथ : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका।
7. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड), लखनऊ, 1965
8. महाजन, वी. डी., प्राचीन भारत की इतिहास, दिल्ली, 1967

इकाई 10– मंत्रीपरिषद : संविधान और कार्य

इकाई की रुपरेखा

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

10.3 मंत्रीपरिषद के सदस्यों की संख्या

10.4 मंत्रीपरिषद के सदस्यों की योग्यता

10.5 मंत्रीपरिषद का संगठन

10.6. मंत्रीपरिषद की कार्यप्रणाली

10.7 मंत्रीपरिषद का महत्व

10.8 सारांश

10.9 बोध प्रश्न

10.10. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 प्रस्तावना

मंत्रिपरिषद को आचार्यो ने राज्य व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बताया है। राजा अपने मंत्रिपरिषद की सहायता से शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करता था।

10.1 उद्देश्य

किसी भी शासन प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिए उसके अनुषंगी अंगों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण होती है। मंत्रिपरिषद भी शासन प्रणाली का एक आवश्यक अंग होता है। इस इकाई के माध्यम से हम शासन व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग मंत्रिपरिषद का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

10.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन भारतीय आचार्यों में मंत्रिमण्डल को राज्य व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंश माना है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (1/1/16) में कहा गया है– **स्वाम्यामात्य जन दुर्ग कोश दण्ड मित्र च सप्त प्रकृतयः**

अमात्य, सचिव और मन्त्री इन तीन नामों से मंत्रियों को प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में पुकारा गया है। डॉ0 पी0 वी0 काणे के अनुसार अमात्य नाम सबसे पुराना है। रूडदामने के जूनागढ़ अभिलेख में दो प्रकार के सचिव बताये गये हैं– परामर्शदाता सचिव और कार्यपालिका सचिव और कौटिल्य ने सामान्य अमात्यों से मन्त्रियों का पद ऊँचा बताया है। डॉ0 के. पी. जायसवाल के अनुसार रामयण में अमात्य साधारण बताये गये है। और सचिव भी मंत्रियों से भिन्न बताये गये हैं।

उत्पत्ति एवं विकास –डॉ0 के. पी. जायसवाल ने कहा है कि – ''हिन्दू मंत्रिपरिषद एक अवयव थी जो प्राचीन वैदिक युगीन राष्ट्रीय सभा से अलग होकर अपना एक स्थान निर्धारित की थी।''

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में राजा के मंत्रियों का उल्लेख नहीं है। लेकिन यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्य के उच्च पदाधिकाकरयों के उल्लेख मिलते है। ये रत्नी कहे जाते थे और सम्भवतः राजपरिषद के सदस्य थे। उत्तरवैदिक युग में इन रत्नियों के नाम भी मिलने लगे। जैसे पुरोहित, सेनानी, सुत्त, संग्रहिता, भागधुक आदि।

सेनानी सेनापति था, सुत्त रथ सेना का नायक था, ग्रामणी गाँव के मुखिया में प्रधान होता था। भागधुक कर वसूलने वाला या अर्थ मंत्री था। संग्रहिता कोशाध्यक्ष होता था। वैदिक काल की समिति बहुत शक्तिशाली संस्था थी। संभवतः इन्हीं में से रत्निन चुनें जाते थे। वैदिक युग में इन रत्नियों की अत्यधिक महत्त थी।

शतपथ ब्राह्मण, तैत्तीरीय ब्राह्मण और अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार राजा अपने अभिषेक के समय रत्नियों के घर जाकर रत्न हवि प्रदान करता था। वैदिक काल के बाद उनकी भी महत्ता समाप्त हो गयी। ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि बाद में यदा–कदा जहाँ रत्नियों का उल्लेख हैं लेकिन शासन में इनका कोई प्रायेजन नहीं रह गया था। रत्नियों का स्थान एक अन्य संस्था ने ले लिया। यह मंत्री, अमात्य या सचिव परिषद थी। डॉ0 यू0 एन0 घोषाल के अनुसार मंत्रियों की सभा को समिति नहीं परिषद कहा जाता था।

मंत्रिपरिषद को अर्थशास्त्र में परिषद, बौद्ध ग्रन्थों और अभिलेख में परिसा कहा गया है। पलिग्रन्थों में मंत्रियों को राजउत्तरों, अशोक के अभिलेख में राजुक, शक अभिलेख में सचिव, चालुक्य, गाहडवाल अभिलेखों में महामात्य के नाम से पुकारा गया है।

मंत्रियों को सामन्तों से ऊँचा स्थान प्राप्त था। उन्हें महासामन्त और महामण्डलेश्वर जैसी उपाधियाँ प्रदान की गयी है। युवराज भी मंत्रियों की नियुक्ति करते थे।

10.3 मंत्रीपरिषद के सदस्यों की संख्या

संख्या –मंत्रिपरिषद की संख्या के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही मतभेद रहा है। मनु के अनुसार 7 या 8, रामायण के अनुसार 8 औसनसों के अनुसार 20, बार्हस्पतयों के अनुसार 13 सदस्यों की मंत्रिपरिषद रखनी चाहिए। कौटिल्य के अनुसार राजा को समय, परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या रखनी चाहिए। यदि राज्य छोटा हो तो 4 या 5 मंत्री तथा बड़े राज्यों में इससे अधिक मंत्री रखना चाहिए। 7 ये 8 मंत्रियों के अतिरिक्त एक परामर्शदायी समिति भी होती थी। इनकी संख्या महाभारत में 36 बतायी गयी

है। कालान्तर में इन सदस्यों को अमात्य कहा जाने लगा। रामायण में राम भरत को तीन या चार मंत्रियों से सलाह लेने का उपदेश देते है। कौटिल्य भी 3 या 4 अनुभवी एवं वृद्ध मंत्रियों से सलाह लेने का परामर्श दिये हैं।

10.4 मंत्रीपरिषद के सदस्यों की योग्यता

योग्यतायें –कौटिल्य, मनु, महाभारत, याज्ञवल्क्य, शुक्र और पाणिनि के अनुसार उच्च कुल में जन्में व्यक्तियों को ही मंत्री नियुक्त करना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार देशवासी, उच्चकुल, निपुण, बुद्धिमान, निर्भीक, विनयशील व्यक्तियों को ही मंत्री नियुक्त करना चाहिए। भारद्वाज ने कहा है कि राजा को अपने सहपाठियों को ही मंत्री नियुक्त करना चाहिए। शुक्रनीति, कौटिल्य, महाभारत, मनु के अनुसार राजा और राज्य के प्रति भक्ति रखने वाले व्यक्तियों को ही मंत्री बनाना चाहिए।

10.5 मंत्रीपरिषद का संगठन

मंत्रियों के विभागों का वर्णन केवल शुक्रनीति में ही मिलता है। शुक्र के अनुसार मंत्रिपरिषद में निम्नलिखित10 मंत्री रहने चाहिए।

पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पंडित, सुमन्त्र, अमात्य और दूत (शुक्रनीति 72–270)

1. **पुरोहित** –इसकी महत्ता वैदिक काल से बनी रही। पुरोहित राजा का गुरु था। इसका कार्य था शत्रु के अनिष्ट कारक अनुष्ठानों का प्रतिकार करना। अर्थशास्त्र के अनुसार पुरोहित को उच्चकुल वाला, वेदज्ञ, ज्योतिष विद्या का ज्ञान रखने वाला और मानुषी प्रकृतियों का प्रतिकार करने वाला होना चाहिए। पुरोहित का भी महत्व धीरे–धीरे कम होता गया और गुप्तकाल आते–आते मंत्रिमण्डल से बाहर हो गया।
2. **प्रतिनिधि** – यह राजा की अनुपस्थिति में उसके नाम पर शासन चलाता था। इस पद पर अधिकतर युवराज ही नियुक्त किये जाते थे। इसे जातकों में उपराजा कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी गणना मंत्रिपरिषदों में नहीं होती थी क्योंकि उत्कीर्ण अभिलेखों में इसका नाम नही मिलता।
3. **प्रधान**–यह मंत्रिपरिषद का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य था।

इसका मुख्य कार्य था राज्यधर्मों का निरीक्षण करना। इसे महाअमात्य, महाप्रधान, मंत्रीन्द्र और महामंत्री आदि नामों से संबोधित किया गया है। संक्षेपतः यह कार्यपालिका एवं प्रशासन का मुख्य अधिकारी था।

4. **सचिव** – यह सेना का मंत्री था। मौर्यकाल में इसे सेनापति एवं गुप्त काल में बलाधिकृत कहा जाता था। सचिव को युद्ध कौशल, शस्त्र संचालन और सैन्य बल में निपुण होना चाहिए। इसका कार्य दुर्गों के रख–रखाव, सेना के विभागों का निरीक्षण करना था।
5. **मन्त्री** – इसे परराष्ट्र मंत्री का स्थान दिया गया है। इसे महासन्धिविग्रहक का भी नाम दिया गया है। इसे राजनीति, साम, दाम, दण्ड एवं भेद का निपुण होना चाहिए।
6. **प्राङविवाक** – यह प्रधान न्यायधीश था। इसे लोकशास्त्रों एवं नीतिशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। इसका कार्य था न्याय करना। राजा की अनुपस्थिति में यह अन्तिम निर्णय देता था।
7. **पंडित** – धर्म और सदाचार से सम्बन्धित विषय इसके अधीन होते थे। राज्य की धार्मिक नीति निर्धारण करना, समाज में प्रचलित धार्मिक विचारों पर नजर रखना इसका मुख्य कार्य था। इसी के अन्तर्गत मठ, विद्या, पाठशाला, मन्दिर को दान देने का कार्य था। धर्माकुश, धर्मप्रधान, धर्म महामात्य आदि नामों से इसे पुकारा गया है। यह आधुनिक विधि सचिव सलाहकार के समान था। गुप्तकाल, राष्ट्रकूट एवं चेदिवंश में इसकी महत्ता अधिक थी।
8. **सुमन्त्र** – यह कोशाध्यक्ष था। यह आय–व्यय का हिसाब रखता था। वैदिक काल में इसे संग्रहिता, अर्थशास्त्र में समाहर्त्ता और अभिलेखों में भण्डागारिक कहा गया है।
9. **अमात्य** – यह माल मंत्री था। इसका कार्य नगरों, ग्रामों, जंगलो के आय–व्यय, कृषि की आय और खानों के आय–व्यय का हिसाब रखता था।
10. दूत – यह आधुनिक राजदूत की तरह था। इसे कूटनीतिज्ञ होना चाहिए। इसका कार्य सन्धि एवं विग्रह सम्बन्धों को अन्य राष्ट्रों के साथ तय करना था।

    डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि उपर्युक्त मंत्रियों के अतिरिक्त एक अन्य मंत्रिपरिषद छोटी सी निर्मित होती थी। इसे डॉ0 जायसवाल ने अंतरंग सभा कहकर अभिहित किया है।

10.6. मंत्रीपरिषद की कार्यप्रणाली

मंत्रिमण्डल के कार्य –

मंत्रणा –मनु का कथन है कि राजा को सामूहिक और अलग–अलग दोनों प्रकार से मंत्रणा करनी चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि मंत्री वही है जो राजा के साथ एकान्त में मंत्रणा करें। कुछ मंत्री खुले अधिवेशन में अपने विचार व्यक्त करते थे। आवश्यकतानुसार राजा पत्र व्यवहार द्वारा मंत्रियों के विचार जान सकता था। शुक्र का कहना है कि जो बात राजा के सम्मुख कहने योग्य न हो उसे पत्र द्वारा राजा को बता देना चाहिए। साधारणतया मंत्रिपरिषद एक होकर कार्य करती थी और संयुक्त रूप से राजा को मंत्रणा देती थी। सम्यक् विचार के बाद मंत्रिपरिषद एकमत होकर जो शास्त्र सम्मत राय देती थी उसे उत्तम मंत्र समझा जाता था और उसका महत्व होता था।

मंत्रगुप्ति –कौटिल्य के अनुसार अन्तिम निर्णय लेने तक मन्त्रणा गुप्त रहनी चाहिए। बीच में किसी के द्वारा भेद खोलने पर उसे कड़ा दण्ड देना चाहिए।

जब किसी विषय में कोई मत निश्चित होता था तो सम्बन्धित विभाग का मंत्री उसे लिपिबद्ध करता था और अंत में यह लिखता था कि इस विषय पर उसकी पूर्ण सहमति है। तत्पश्चात वह लिपि राजा के पास भेजी जाती थी। राजा स्वीकृति के उपरान्त इस पर हस्ताक्षर करता था। इसके बाद वह आदेश प्रकाशित किया जाता था, या सम्बन्धित अधिकारियों के पास कार्यान्वित करने के लिए भेज दिया जाता था।

राजा और मंत्रिमण्डल –मनु ने कहा है कि जो राजा मंत्री की सलाह नहीं लेता वह मूर्ख एक अयोग्य है। शुक्र का कथन है– राजा मंत्रिमण्डल के सब योग के बिना राज्य कार्य नहीं चला सकता।

महाभारत के अनुसार राजा सदैव मंत्रियों के अधीन ही रहता था। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि अशोक के मंत्रियों ने उसे अत्यधिक दान देने से रोका। रूद्रदामन के मंत्रियों ने उसे अत्यधिक खर्च करने पर रोक लगायी थी। राजा और मंत्रियों में प्रगाढ़ सम्बन्ध था।

डॉ0 के. पी. जायसवाल ने Hindu Polity में कहा है कि राजा मंत्रिपरिषद की सहायता और स्वीकृति के बिना कार्य नहीं कर सकता था।

10.7 मंत्रीपरिषद का महत्व

प्राचीन भारतीय आचार्यों की दृष्टि में मंत्रिमण्डल की अत्यधिक महत्ता थी। महाभारत में कहा गया है कि – राजा अपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर है, जितना प्राणि मात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियाँ अपने पतियों पर।

अर्थशास्त्र का कथन है कि जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, इसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता से अकेले राजा से राज्य नहीं चल सकता।

सहायसाध्यं राजत्सं चक्रमेकं न वर्तते।

कुर्वीत सचिवां स्तरमात्तेषां श्रुणुयान्मत्म्।। अर्थशास्त्र.1.3.1

शुक्र का कथन है कि योग्य राजा भी सब बातें नहीं जान सकता, पुरूष–पुरूष में बुद्धि, वैभव अलग–अलग होता है। अतः राज्य की अधिवृद्धि चाहने वाले राजा योग्य मंत्रियों को चुने, अन्यथा राज्य का पतन निश्चित है।

पुरुषे–पुरुषे भिन्न दृश्यते बुद्धिवैभवम्

नहि तत्सकल ज्ञातुं नर धैकेन शक्यतो

रोधनं अवेत्तस्मादाज्ञस्ते स्यः सुमन्त्रिणः।।

पंचतन्त्र में मंत्री राज्य के स्तम्भ बताये गये है।

मनु के अनुसार एक सरल कार्य भी एकाकी व्यक्ति के लिए दुष्कर होता है, तो राज्य जैसे महान कार्य के लिए क्या मंत्रियों की आवश्यकता नहीं हो सकती।

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।

विशेष तोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्।। मनुस्मृति 7/5

कामन्दक ने मंत्रियों को नेत्र कहा है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था में मंत्रिमण्डल की कितनी अधिक महत्ता थी।

अर्थशास्त्र मंत्रिमण्डल को राज्य व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग के रूप में बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार एक चक्र (पहियें) से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता से अकेले राजा से राज्य नहीं चल सकता।

10.8 सारांश

राजा अपने मंत्रियों पर उसी प्रकार निर्भर होता है कितना प्राणिमात्र पर्यजन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियाँ अपने पतियों पर। मंत्रिपरिषद एक प्रकार से राजा का आँख और कान हुआ करती थी जिसकी सहायता से वह शासन का कुशल संचालन करता था।

10.9 बोध प्रश्न

1. मंत्रिपरिषद की महत्ता स्पष्ट किजिए।
2. मंत्रियों की योग्यताओं का वर्णन कीजिए।
3. मंत्रिपरिषद के कार्यों पर प्रकाश डालिए।

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धतियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2013
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
3. जायसवाल, काशी प्रसादः हिन्दू राजतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. गोपाल, लल्लन जी : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. त्रिपाठी, हरिहर नाथ : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका।
7. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड), लखनऊ, 1965
8. महाजन, वी. डी., प्राचीन भारत की इतिहास, दिल्ली, 1967

इकाई 11. अंतर्राज्यीय संबंध : मंडल और षाड्गुण्य का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 अंतर्राज्यीय सम्बन्धों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

11.3 मण्डल सिद्धान्त

11.4 मण्डल में प्रभावोत्पन्नता के उपाय

11.5 षाडगुण्य सिद्धान्त

11.6 षाडगुण्य सिद्धि में दूत व्यवस्था का अवदान

11.7 दूत की योग्यताएँ

11.8 दूत के कर्तव्य

11.9 सारांश

11.10 बोध प्रश्न

11.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में विद्यमान सभी राज्य आकार एवं सामर्थ्य की दृष्टि से एक समान नहीं थे। लघु से विशाल के परिमाण में स्थित ये राज्य समय–समय पर एक दूसरे के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह भी खड़े करते रहते थे और कभी–कभी उनकी समाप्ति का कारक भी बनते रहते थे। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राज्यों के पाररूपरिक सम्बन्धों के विषय में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे मण्डल सिद्धान्त कहते हैं।

11.1 उद्देश्य

प्राचीन भारत में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास शनैः–शनैः हुआ है। इस इकाई के माध्यम से हम प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के ताने–बाने का अध्ययन करेंगे।

11.2 अंतर्राज्यीय सम्बन्धों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में मण्डल सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादक कौटिल्य है। कौटिल्य ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को चार रूपों में व्यक्त किया हैं।

1. शत्रु 2. मित्र 3. मध्यम 4. उदासीन

इन राज्यों में प्रत्येक का मण्डल होता था। इस मण्डल में 1. राजा 2. राजा का शत्रु राज्य 3. राजा का मित्र राज्य 4. मध्यम राज्य 5. उदासीन राज्य थें।

मण्डल शब्द का अर्थ दायरे, घेरे या गोले से हैं।

मकिन्दसार

पार्ष्णिनी ग्राहसार

आक्रन्द

पार्ष्णिग्राह

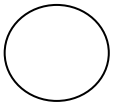

राजा

राजा का शत्रु राज्य (अरि)

राजा का मित्र राज्य (मित्र)

मध्यम राजा (अरि मित्र)

उदासीन राजा (मित्र मित्र)

मण्डल व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य शक्ति संतुलन (Balance of Power) था। क्योंकि कोई भी शक्तिशली राज्य निर्बल के अस्तित्व की समाप्ति का कभी भी कारण बन सकते थे।

इस सिद्धान्त के द्वारा भी युद्ध तो समाप्त नहीं हो सकता था, किन्तु युद्ध की संभावना काफी क्षीण हो जाती थी। कौटिल्य ने विविध राज्यों के मण्डल बनाकर उसमें सन्तुलन बनााये रखने की व्यवस्था दी। शक्ति सन्तुलन के आधार पर ही मण्डल सिद्धान्त आधारित है।

11.3 मण्डल सिद्धान्त

मण्डल सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राज्य अपने पड़ोसी राज्य का शत्रु (अरि), शत्रु के पड़ोसी राज्य का मित्र, मित्र के बाद अरिमित्र (अपने शत्रु का मित्र), उसके आगे मित्रमित्र (अपने मित्र का मित्र) और उसके आगे अरिमित्रमित्र (अपने शत्रु के दोस्त का दोस्त) ऐसे राजा रहते थे।

शत्रु राज्य – मण्डल सिद्धान्त के अनुसार दो ऐसे राज्य जिनकी सीमायें एक दूसरे को स्पर्श करती हो, स्वभावतः वे दोनों शत्रु राज्य होते हैं। उन दोनों में स्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता रहती है। समय और परिस्थिति को देखकर तीन प्रकार के शत्रु होते थे –प्रकृति शत्रु, सहज शत्रु एवं कृत्रिम शत्रु

1. प्रकृति शत्रु – राज्य की सीमा को स्पर्श करने वाले राज्य प्रकृति शत्रु राज्य कहे गये हैं। इनके राजा को प्रकृति अरि राजा कहा जाता है।
2. सहज शत्रु – राजा के स्ववंश में उत्पन्न उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करने वाले सहज अरि कहे गये हैं।
3. कृत्रिम शत्रु – स्वयं विरोध करने वालों को कृत्रिम अरि कहा गया है। शिशुपाल वध में इन तीनों के उल्लेख हैं। इनमें कृत्रिम शत्रु सबसे भयानक होता हैं।

मित्र राज्य – मित्र राज्य भी तीन प्रकार के होते है। 1. प्राकृतिमित्र 2. सहजमित्र 2. कृत्रिममित्र

1. प्रकृतिमित्र – राजा के अपने राज्य की सीमा पर स्थित अरि राज्य की दूसरी ओर, अरिराज्य की सीमा पर स्थित राज्य को प्रकृतिमित्र कहा गया है।
2. सहजमित्र – माता–पिता से सम्बन्धित राजा सहजमित्र माना गया है।
3. कृत्रिममित्र – जो राजा आश्रय प्राप्त करता है। वह राजा आश्रय देने वाले का कृत्रिम मित्र होता है।

मध्यम राजा – कौटिल्य के अनुसार विजयी और उसके अरि राजा दोनों के राज्यों की सीमा पर स्थित शक्तिशाली राज्य के राजा को मध्यम राजा कहते है। वह दोनों राज्यों से अपने शक्ति के बल पर सम्बन्ध बनाये रखता है।

उदासीन राजा – बिजिगीषु और मध्यम राजा से अलग सप्त प्रकृतियों से सम्पन्न एवं बलशाली राजा जब शत्रु के राज्य, मित्रराज्य और मध्यम राजा को अलग–अलग अथवा एक साथ सहायता देने में समर्थ हो उसे उदासीन कहा गया है।

राज्यमण्डल के चार घटक होते थे। इनमें अलग–अलग राज्यमण्डल बनते थे। बिजिगीषु उसका मित्र राजा और उसके मित्र राजा। इन तीनों राज्यों के क्रमशः तीन राजा तीन प्रकृतियाँ कहलाती थी और 6 राज्यों की 18 प्रकृतियाँ होती थी। इन 18 प्रकृतियों को मिलाकर एक राज्य मण्डल बनते है। इन सबकों वृहद् मण्डल कहते है।

कौटिल्य के अनुसार एवं वृहद मण्डल में 12 राजा होते है।

मण्डल सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य राज्यों की सुरक्षा और शक्ति सन्तुलन से है। बिजीगीषु राजा को अपने वैदेशिक नीति का निर्धारण करते समय अपने सामने के पाँच राजा, पीछे के चार राजा एक उदासीन ऐसे बारह राजाओं पर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। बिजिगीषु ही मण्डल सिद्धान्त के अन्तर्गत आने वाले राज्यों में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करता था।

समुद्रगुप्त, हर्ष आदि राजाओं ने मण्डल सिद्धान्त का पालन किया था। समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में वर्णित म्लानानुमोक्षग्रह वाले राज्य उसके करद राज्य थ। आधुनिक Buffer state की भाँति उनके मित्र राजा काम आते थे। मण्डल सिद्धान्त के अन्तर्गत दूत प्रथा भी प्रचलित थी।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत मण्डल सिद्धान्त महत्वपूर्ण स्थान रखता था।

अरिमित्रमित्र

मित्रमित्र (उदासीन राजा)

अरिमित्र (मध्यम राजा)

मित्रराज्य (राजा का मित्रराज्य)

अरिराज्य (राजा का शत्रुराज्य)

सामने के राजा

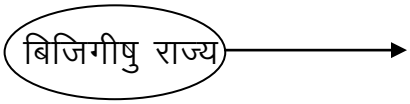

पीछे के राजा

पार्ष्णिग्राह

आक्रन्द राज्य

पार्ष्णिग्राहसार राज्य

आक्रन्द सार

11.4 मण्डल में प्रभावोत्पन्नता के उपाय

मण्डल की विभिन्न प्रकृतियों में स्वयं को श्रेष्ठ और शक्ति सम्पन्न बनाकर दण्ड और भेद के चतुर्विध उपायों का आलम्बन करना चाहिए, जिससे उसकी उपदेयता मण्डल में सदैव बनी रहे। आचार्य शुक्र का कहना है कि जब एक उपाय विफल हो जाय तब दूसरे उपाय का सहारा किया जाना उचित होता है। इन उपायों का प्रयोग करते समय देश, काल, परिस्थितियों और आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

11.5 षाडगुण्य सिद्धान्त

प्राचीन भारत में राज्य की परराष्ट्र नीति का संचालन षाड्गुण्य सिद्धान्त द्वारा किया जाता था। महाभारत (शांति पर्व), अर्थशास्त्र, मनु स्मृति, शुक्रनीतिसार, कामंदक नीतिसार आदि ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का वर्णन प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को अपने शत्रु के

साथ व्यवहार करते समय छः गुणों को ध्यान में रखना चाहिये। ये छः गुण हैं – संन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। इन छः गुणों का विवरण निम्नवत है –

1. सन्धि –

कौटिल्य के अनुसार दो राजाओं के बीच निर्धारित शर्तों के बाद होने वाले मेल–मिलाप को सन्धि कहते है। सन्धि प्रायः एक शक्तिहीन या पराजित राजा अपने से सशक्त राजा के साथ करता है। कामन्दक का कथन है कि जब राजा किसी बलवान् शत्रु राजा से आक्रान्त हो जाये और अपनी रक्षा का कोई उपाय न दिखाई दे, तब ऐसी अवस्था में विपत्तिग्रस्त राजा को समय व्यतीत करने के लिए संधि कर लेनी चाहिए। सन्धियाँ कई प्रकार की होती हैं, किंतु उपहार संधि को सबसे श्रेष्ठ माना गया है। चूँकि आक्रमणकारी शत्रु राजा बिना लोभ की निवृति के लौटता नहीं है, इसलिए उसे उपहार आदि प्रदान कर उसके साथ सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर होता है। शक्तिशाली राजा के कोप को भूमि, कोश, सेना, सन्तान, कन्या आदि देकर शान्त किया जाना, इस संधि की विशेषता है। कौटिल्य ने पराजित राजा के लिए संधि काल को ऐसा अवसर माना है, जिसमें वह स्वयं की रक्षा एवं उन्नति करते हुए सबल शत्रु को शक्तिहीन बनाने का प्रयत्न कर सकता है।

कभी–कभी कई राजा किसी एक शक्तिशाली शत्रु के विरूद्ध संगठित होकर आपस में संधि कर लेते हैं। इस प्रकार की संधि परिणतार्थ सन्धि कही जाती है।

2. विग्रह –

सन्धि शब्द जहाँ दो या दो से अधि राजाओं के मेल को प्रकट करता है, वहीं विग्रह शब्द से तात्पर्य एक दूसरे के अपकार में लगने से है। इसे युद्ध के अर्थ में भी लिया जाता है। मनु का कथन है कि ''जब राजा यह अनुभव करे कि उसकी संपूर्ण प्रकृतियाँ (अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र) सबल है तथा वह स्वयं भी उत्साह से परिपूर्ण है तो उसे विग्रह गुण का आश्रय लेना चाहिये।'' कौटिल्य के मतानुसार विग्रह तभी करना चाहिए जब राजा स्वयं को शत्रु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली समझता है। जिस समय विजिगीषु राजा यह देखे कि उसके देश में प्रायः लोग शस्त्र चलाने में निपुण और संगठित है तथा उसका राज्य पर्वत, वन, नदी और दुर्ग से सम्पन्न है, उसके राज्य में प्रवेश करने के लिए केवल एक ही द्वार है और वह शत्रु के आक्रमण को विफल करने में समर्थ है, तब वह विग्रह गुण का अवलम्बन कर सकता है। कामन्दक के अनुसार विग्रह तभी करना चाहिए जब यह वर्तमान एवं भविष्य दोनों

कालों में फलदायक प्रतीत हो। यदि यह करना भी पड़े तो अपने से अधिक शक्तिशाली राजा के साथ न किया जाये। शुक्र के मतानुसार भी बलवान् राजा से युद्ध नहीं करना चाहिए।

3. यान –

यान का अभिप्राय है चढ़ाई अथवा आक्रमण करना। कौटिल्य के अनुसार अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध कर लेने के पश्चात् जब यह प्रतीत हो कि शत्रु के राज्य का नाश आक्रमण द्वारा सम्भव है तब यान गुण का अवलम्बन करना चाहिए। शुक्र के मतानुसार अपने इच्छित फल व विजय प्राप्ति की कामना से तथा शत्रु के नाश के निमित्त जो प्रस्थान (गमन) किया जाता है, उसे यान कहते है। जब विजिगीषु यह समझे कि शत्रु व्यसन, अग्नि, जल, रोग अथवा दुर्भिक्ष से पीड़ित है तथा उसका मण्डल दुर्बल है तब उस पर चढ़ाई कर देनी चाहिए। मनु ने यान के दो प्रकार बताए हैं –

(1) एकाकी यान –इसके अन्तर्गत विजिगीषु अकेले ही (अपने मित्र राज्यों की सहायता लिए बिना) शत्रु के विरूद्ध अभियान कर देता है।

(2) मित्र–संहत यान –यदि शत्रु पर आक्रमण करना आवश्यक हो और विजिगीषु स्वयं चढ़ाई करने में असमर्थ हों, तब मित्रों की सहायता से शत्रु पर आक्रमण करना मित्र–संहत यान कहलाता है।

4. आसन –

आसन का शाब्दिक अर्थ होता है – बैठना। राजशास्त्र में अपने अवसर की ताक में मौन बैठे रहना आसन कहलाता है। कौटिल्य ने अनुकूल समय की प्रतीक्षा में बैठे रहने की स्थिति को आसन गुण कहा है। उसने लिखा है कि जब राजा यह समझे कि उसका शत्रु इतना समर्थ नहीं है कि उसके कार्यों को हानि पहुँचा सके और न ही वह स्वयं उसके कार्यों को बिगाड़ सकता है, तो उसे इन नीति का आश्रय लेना चाहिए।

मनु ने आसन के दो प्रकार बताए हैं –

(1) शक्तिहीन आसन –

जब राजा अपने पूर्व कर्मों के कारण शक्तिहीन होकर बैठ जाता है तो इसे शक्तिहीन आसन कहते है। इसका उद्देश्य पुनः शक्ति संचय करना होता है।

(2) मित्रानुरोध आसन –

इसमें मित्र के अनुरोध पर राजा मौन होकर बैठ जाता है। कामन्दक का निर्देश है कि यदि युद्ध के कारण विजिगीषु की शक्ति नष्ट होने की संभावना हो तो उसे आसन गुण ही अपनाना चाहिए।

5. संश्रय –

संश्रय शब्द का तात्पर्य आश्रय अथवा शरण ग्रहण करना है। कौटिल्य का मत है कि जब एक राजा यह अनुभव करें कि वह शत्रु के कार्यों को हानि नहीं पहुँचा सकता और न ही वह अपने कार्यों की रक्षा कर पा रहा है, तब उसे किसी बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। आश्रय लेते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इस राजा की शक्तियाँ शत्रु राजा की शक्तियों से अधिक होनी चाहिए। यदि ऐसा कोई राजा न मिले तो उचित यही रहेगा कि वह अपने सबल शत्रु के समक्ष ही आत्मसमर्पण कर दे।

मनु ने भी संश्रय गुण का वर्णन किया है। उसका कथन है कि जब शत्रु के आक्रमण के विरूद्ध कोई राज्य अपनी रक्षा न कर सके तो उसे शीघ्र ही बलवान् राजा का संश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। यहाँ बलवान् से तात्पर्य ऐसे राजा से है जो उसकी रक्षा कर सके तथा शत्रु की सेना का निग्रह कर सके। मनु ने संश्रय गुण के दो प्रकार बनाए हैं –

(1) शत्रु से पीड़ित होते हुए आत्म–रक्षार्थ किसी बलवान् राजा की शरण में चले जाना।
(2) भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की आशंकावश किसी बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना। इस प्रकार का आश्रय अपना प्रभाव बढ़ाने हेतु भी लिया जाता है। तत्कालीन आवश्यकता न रहने पर भी प्रबल राजा का आश्रय लिया जाता है, जिससे अन्य राजा इस बात से डरते रहें कि उसे प्रबल राजा का सहारा हैं, अतः उसके विरूद्ध आचरण न करें।

शुक्रनीति में संश्रय गुण को आश्रय गुण कहा गया है। उसके अनुसार जब प्रबल शत्रु द्वारा किसी राजा के राज्य का मूलोच्छेद कर दिया गया हो और राजा को कोई दूसरा उपाय न सूझे तो इस परिस्थिति में उस राजा को किसी कुलीन, आर्य, सत्यवादी और बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

6. **द्वैधीभाव –**

द्वैधीभाव का शाब्दिक अर्थ है– दो प्रकार के भाव व्यक्त करना। जब किसी राजा द्वारा एक ही समय में दो प्रकार की नीतियों का अवलम्बन किया जाता है तब यह द्वैधीभाव गुण कहलाता है। कौटिल्य के अनुसार एक ही समय में एक राजा के साथ सन्धि और दूसरे के साथ विग्रह करना द्वैधीभाव है। मनु ने सेना को दो भागों में विभक्त करने को द्वैधीभाव कहा है। उसके अनुसार जब राजा शत्रु को अति बलवान् पाये तो ऐसी परिस्थिति में उसे सेना को दो भागों में विभक्त कर अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए। अर्थात वह एक स्थान पर युद्ध करे और दूसरें स्थान पर शान्त रहे।

कामन्दक का कथन है कि द्वैधीभाव वह गुण है जिसके तहत् राजा तैयारी तो आक्रमण की करता रहे किंतु ऊपर से शांति की बात करता रहे। शुक्र का मत भी कामन्दक के समान ही है। उसने लिखा है कि जब राजा को समय के अनुसार कार्य का उपाय निश्चित न हो तब वह काक के नेत्र के समान कभी किसी की ओर और कभी किसी की ओर झुकाव प्रदर्शित करे।

जिस समय विजिगीषु राजा यह समझता है कि एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह करके वह अपने कार्यों को सम्पादित कर सकता है तथा शत्रु के कार्यों को हानि पहुँचा सकता है, उस समय अपनी कार्य–वृद्धि हेतु द्वैधीभाव का अवलम्बन करने की नीति उचित ठहराई गई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये छः गुण षाड्गुण्य मंत्र के होते हैं। महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं कि षाड्गुण्य मंत्र, त्रिवर्ग तथा परमंत्रीवर्ग को जो राजा विधिवत् जान लेता है, वही इस सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।

षाड्गुण्य मंत्र के प्रयोग विषय में कौटिल्य का निर्देश इस प्रकार है –

(1) जब दूसरे राज्य की शक्ति अधिक हो तो उससे सन्धि कर ली जाए।

(2) यदि राजा अपने राज्य को शक्ति सम्पन्न समझे तब विग्रह किया जाए।

(3) यदि राजा को यह विश्वास हो कि उसकी शक्ति शत्रु से अधि है तो यान (आक्रमण) की नीति अपनानी चाहिए।

(4) जब राजा यह अनुभाव करे कि न दूसरा हमें परास्त कर सकता है और न हम दूसरे पर विजय पा सकते है, तो आसन (तटस्थता की नीति) का आश्रय लिया जाए।

(6) जब राजा यह देखे कि उसके उद्देश्य की पूर्ति एक के साथ सन्धि तथा दूसरे के साथ विग्रह करने से हो जाती है, तब उसे द्वैधीभाव अपनाना चाहिए।

कौटिल्य ने उपर्युक्त सभी गुणों के महत्व का तुलनात्मक विवेचन भी किया है। उनका मत है कि संधि और विग्रह में संधि श्रेष्ठ है क्योंकि विग्रह में शक्तिक्षय, व्यय, प्रवास व अन्य कष्ट होते है। यान और आसन में आसन उचित और श्रेष्ठ है। इसी प्रकार संश्रय और द्वैधीभाव में से द्वैधीभाव उत्तम होता है, क्योंकि द्वैधीभाव में अपनी कार्यसिद्धि होती है जबकि संश्रय में दूसरे के प्रभाव में रहकर उसके कार्य सिद्ध करने होते है।

अतएव बिजिगीषु राजा को समय एवं परिस्थिति के अनुरूप षाड्गुण्य के सभी उपायों का बुद्धिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

11.6 षाडगुण्य सिद्धि में दूत व्यवस्था का अवदान

मण्डल सिद्धान्त के अन्तर्गत दूत प्रथा भी प्रचलित थी। यह आधुनिक राजदूत की तरह था। इसे कूटनीतिज्ञ होना चाहिए। इसका कार्य सन्धि एवं विग्रह सम्बन्धों को अन्य राष्ट्रों के साथ तय करना था।

11.7 दूत की योग्यताएँ

ऋग्वेद के अनुसार दूत तेजस्वी, कार्य को अन्त तक पहुँचाने वाला, अपना भाव उत्तम रीति से रखने में समर्थ, तरूण के समान बलवान् और ओजस्वी, अग्नि ज्वाला के समान ओजपूर्ण भाषण करने वाला, सत्य धर्म का पालन करने वाला और अपने राजा को सुखी करने वाला होना चाहिए।

महाभारत में भीष्म का कथन है कि जो पुरुष कुलीन, वाग्मी (कुशल वक्त), दक्ष प्रियभाषी, यथोक्तवादी और स्मृतिवान् हो वही दूत–पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। मनु के अनुसार दूत को सर्वशास्त्रों का विद्वान, दूसरों की भाव–भंगिमाओं से उनके मन की बातें जान लेने वाला, चतुर, कुलीन, स्मरणशक्तियुक्त देश–काल का ज्ञाता, निर्भय एवं वाग्मी होना चाहिए। कौटिल्य कामन्दक, शुक्र एवं सोमदेव सूरि ने भी दूत में उक्त समस्त गुण एवं योग्यताएँ होनी आवश्यक मानी है।

दूत के प्रकार –

कौटिल्य ने योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से दूतों के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है – निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहार

11.8 दूत के कर्तव्य

मनु के अनुसार दूत पर सन्धि और विग्रह कराने का भारी उत्तरदायित्व होता है। वह अपनी वाक्पटुता एवं कौशल से शत्रु से मेल करा सकता है, मिले हुए शत्रु से विग्रह करा सकता है तथा परस्पर मैत्री भाव रखने वाले राजाओं में फूट उत्पन्न कर सकता है।

कौटिल्य के अनुसार दूत के प्रमुख कार्य इस प्रकार है – अपने स्वामी का सन्देश दूसरे शासकों तक पहुँचाना तथा उनका उत्तर अपने स्वामी को भेजना, पूर्व काल में की हुई सन्धियों का पालन करना, अपने स्वामी के गौरव व प्रताप का प्रचार करना, मित्रों की संख्या बढ़ाना, शत्रु एवं उसके मित्रों में भेद उत्पन्न करना, शत्रु की सेना और गुप्तचरों को अपने राज्य से बाहर करना, शत्रु के बंधु–बांधवों एंव रत्नों का अपहरण करना, शत्रु की कमजोरी को देखते ही पराक्रम प्रदर्शित करने की व्यवस्था करना, संधि के अनुसार कैदियों को छुड़ाना आदि।

कामन्दक ने दूतों के निमनिलिखित कर्त्तव्य बताए हैं –

1. अपने तथा अन्य राजाओं के मध्य संदेशों का आदान–प्रदान जारी रखना। अपने राजा द्वारा प्रेषित सन्देश को बिना परिवर्तित किए अन्य राजा के सामने उसे प्रस्तुत करना दूत के लिए अपरिहार्य था।
2. अन्य राज्य में जाकर अपने राजा के पराक्रम व प्रभाव की स्थापना करना।
3. अन्य राज्यों के विभिन्न अंगों की वास्तविक शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर, उनकी संपूर्ण जानकारी अपने स्वामी का देना।
4. अन्य राज्य के राजा से असंतुष्ट लोगों को अपनी ओर मिलाने का यत्न करना।
5. अन्य राज्य में प्रवेश करने के स्थल एवं जल मार्गों की जानकारी अपनी सेना के लिए प्राप्त करना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अपने देश की सुरक्षा एवं सम्मान की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहना दूत का प्रमुख कर्त्तव्य है। अपने राज्य की रक्षा एवं प्रगति के लिए दूत को शत्रु राज्य की प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का पता लगाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

दूत का आचार –

कौटिल्य का मत है कि दूत को अपने निश्चित मान, वाहन, नौकर–चाकर और अन्य उत्तम साम्रगियों के साथ पर–राज्य में निवास करना चाहिए, पर–राज्य के राजा की आज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही उस राज्य में प्रवेश करना चाहिए। अपने राजा का सन्देश पर–राज्य के राजा के समक्ष ज्यों–का–त्यों प्रस्तुत करना चाहिए। प्राणों का भय होने पर भी उसे सन्देश में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहिए। पर–राज्य के राजा से अनुमति लेकर ही दूत को अपने राज्य के लिए प्रस्थान करना चाहिए। दूसरे राजा द्वारा उसका जो स्वागत–सत्कार किया जाए, उसके प्रति प्रसन्नता प्रकट करते हुए भी अधिक प्रभावित नहीं होना चाहिए। अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए विरोधी राजा को यदि बुरा लगे और वह उस दूत को बन्दी बनाना चाहता हो अथवा उसे मारने की योजना बना रहा हो तो उस दूत को पर–राज्य से भाग जाना चाहिए। अपने राज्य की कोई भी गुप्त बात बताए बिना ही दूत को अपने राजा के कुल, ऐश्वर्य, उन्नति, सरलता, धर्मप्रियता आदि का बखान करते रहना चाहिए। उसे दोनों पक्षों के गुणों को दोहराते रहना चाहिए। इस प्रकार दूत के आचार–व्यवहार सम्बन्ध में व्यापक नियम बनाए गये। ये नियम आज की बदली हुई परिस्थितियों में भी पर्याप्त उपयोगी और व्यावहारिक हैं।

दूत के लिए अपेक्षित सावधानियाँ –

दूत के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि वह अपने राज्य के गुप्त भेद पर–राज्य में कदापि प्रकट ने करे। इस लिए कौटिल्य ने दूत को पर–राष्ट्र में अत्यंत सावधान रहने का निर्देश दिया है। दूत को कभी भी स्त्री प्रसंग और मद्यपान नहीं करना चाहिए क्योंकि इनसे मन के आन्तरिक भाव प्रकट होने का भय रहता है। दूत को अकेले सोना चाहिए क्योंकि कई बार व्यक्ति नशे में अथवा सोते हुए भी अपने मन के भेदों को कहने लगता है। यदि परकीय राजा उसे विशेष आदर–सम्मान एवं प्रलोभन देकर उससे उसके राज्य का भेद पूछने का प्रयास करे तो उसे राजा की चालाकी में नहीं आना चाहिए।

11.9 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में मण्डल सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य कौटिल्य ने किया है। मण्डल व्यवस्था मुख्य उद्देश्य शक्ति संतुलन था, क्योंकि कोई भी शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्य के अस्तित्व की समाप्ति का कारण बन सकते थे। इस सिद्धान्त के द्वारा भी युद्ध तो समाप्त नहीं हो सकता था किन्तु युद्ध की संभावना काफी क्षीण हो जाती थी।

11.10 बोध प्रश्न

1. मण्डल सिद्धान्त क्या हैं?
2. मण्डल सिद्धान्त का महत्व बताईये।
3. प्राचीन भारत में दूत व्यवस्था का महत्व स्पष्टकीजि

11.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धतियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2013
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
3. जायसवाल, काशी प्रसादः हिन्दू राजतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. गोपाल, लल्लन जी : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. त्रिपाठी, हरिहर नाथ : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका।
7. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड), लखनऊ, 1965
8. महाजन, वी. डी., प्राचीन भारत की इतिहास, दिल्ली, 1967

इकाई 12. सैन्य संगठन : शस्त्र और युद्ध इकाई की रूपरेखा

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

12.3 शस्त्र एवं अस्त्र

12.4 युद्ध में नैतिकता का सिद्धान्त

12.5 युद्ध के परिणाम

12.6 सारांश

12.7. बोध प्रश्न

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.1 उद्देश्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होते हुए भी प्रतिस्पर्धा, सहयोग, युद्ध एवं शांति उसके जीवन का अभिन्न अंग है। हम इस इकाई में मानव के इसी जीवन से सम्बन्धि शस्त्र और युद्ध का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

12.1 प्रस्तावना

युद्ध से केवल राज्य की सुरक्षा, शान्ति है अपितु यह नीतियों के निष्पादन, राजनीतिक शक्ति, गर्व और प्रतिष्ठा वृद्धि के साथ–साथ राज्य की सीमा का विस्तार भी दिलाता है।

12.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

युद्ध शब्द का अर्थ उसी संदर्भ में प्रयोग किया जाता था जैसे कि आज हम देखते हैं। युद्ध की अपेक्षा प्राचीन काल में संग्राम शब्द का प्रयोग सदैव होता आया हैं। आज हम युद्ध के बारे में चर्चा करते हैं तो यह पाते हैं कि युद्ध दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य सशस्त्र संघर्ष है जिसका क्षेत्र असीमित होता है और अपने शत्रु के विरूद्ध सम्पूर्ण संसाधनों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतः युद्ध में अनेक संग्राम होते हैं लेकिन एक संग्राम में अनेक युद्ध नहीं हो सकते। यह महत्वपूर्ण विषय बन जाता जबकि प्राचीन भारतीय इतिहासकारों और लेखकों ने युद्ध को उसी संदर्भ में समझा।

12.3 शस्त्र एवं अस्त्र

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने 10 प्रकार के स्थिर एवं 16 प्रकार के चल यन्त्रों का उल्लेख किया है–

1. **स्थिर यन्त्र**

   (i) सर्वतोभद्र (मशीनगन)

   (ii) जामदग्न्य (जिसमें बीच के छेद से बड़े गोले निकलें।)

   (iii) बहुमुख (किले की दीवारों में ऊँचाई पर बनाये गये वे स्थान जहाँ से सैनिक गोली वर्षा कर सकें।

(iv) विश्वासघाती (नगर के बाहर तिरछी बनावट का ऐसा यन्त्र जिसको छू लेने से ही प्राणान्त हो जाय।)

(v) संघाती (लम्बे ऊँचे बासों से बना वह यन्त्र जो महलों के ऊपर रोशनी फेंके।)

(vi) यानक (पहियों पर रखा जाने वाला यन्त्र)

(vii) पर्जन्यक (वरूणास्त्र, फायर बिग्रेड)

(viii) बाहुयन्त्र (ऊपर स्तम्भ की आकृति का नजदीक की मार करने वाला यंत्र)

(ix) अर्धबाहु (ऊर्ध्वबाहु का आधा)

2. **चल यंत्र** –कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 16 चल यन्त्रों का उल्लेख किया है।

(i) पाँचालिक (बढ़िया लकड़ी पर तेज धार पर बना यन्त्र जो परकोटे के बाहर जल के बीच में शत्रु को रोकने के काम आता है।)

(ii) देव दण्ड (कील रहित बड़ा भारी स्तम्भ जो परकोटो के ऊपर रखा रहता है।)

(iii) सूकरिका (सूत या चमड़े की या बाँस और चमड़े की बनी मषकरी जो परकोटा अट्टालिका के ऊपर ढक कर रखी जाती है।)

(iv) मुसल यष्टि (खैर की मुसल का बना डंडा जिसके आगे शूल लगा हो।)

(v) हस्ति वारक (त्रिशुल या शूल डण्डा)

(vi) तालवृन्द्र (चारों ओर घूमने वाला यंत्र)

(vii) मुद्गर

(viii) द्रुधण (मुद्गर के ही समान यन्त्र)

(ix) गदा

(x) स्पृक्तला

(xi) आस्टोफिन (चमड़े से बना हुआ चार कोना वाला मिट्टी के ढेले या पत्थर फेंकने वाला यंत्र)

(xii) उद्घाटिम

(xiii) उत्पाटिभ (खम्भे आदि को उड़ा देने वाला यन्त्र)

(xiv) शध्वनी (किले की दीवार ऊपर रखा जाने वाला बड़े स्तम्भ की आकृति का यंत्र)

(xv) त्रिशुल व चक्र

3. **हल मुख शस्त्र** –भाले की आकार वाले शस्त्रों को कौटिल्य ने हलमुख यंत्र कहा है। इसके अन्तर्गत निम्न आयुध होते थे।

(i) शक्ति (कनेर के पत्ते की आकृति का लोहे का बना हथियार)

(ii) प्रास (चौबीस अंगुल लम्बा दुधारा हथियार जिसकी मूठ बीच में लकड़ी की बनी हो।)

(iii) कुंत (सामान्यतः सात हाथ का, छः हाथ का मध्यम और पाँच हाथ का निकृष्ट)

(iv) हाटक (कुंत के बीच समान तीन काँटों वाला हथियार)

(v) भिण्डपाल (मोटे फल वाले कुंत के समान)

(vi) शूल (तेज मुख वाला हथियार)

(vii) तोमर (बाण के समान तेज मुख वाला जो हाथ का अधम, साढे चार हाथ का मध्यम एवं पाँच हाथ वाला उत्तम समझा जाता है)

(viii) बारह कर्ण (एक प्रकार का प्रास जिसका मुख सुअर के कान के समान होता है)

(ix) कर्पण (लोहे का बना हुआ, दोनों ओर तीन–तीन काँटों से युक्त, 24, 22, 20, अंगुल का क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं अधम माना जाता हैं।)

(x) कर्पण (तोमर के समान हाथ से फेंका जाना वाला बाण)

(xi) ऋषिका (प्रास जितनी सम्पूर्ण लोहें की बनी)

उपरोक्त हथियार हलमुख कहलाते थे क्योंकि इन सभी का अग्रभाग हल के अग्रभाग की तरह तेज होता था।

4. **अन्य आयुध** –उपरोक्त हथियारों के अतिरिक्त अन्य हथियारों का भी उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया, जो इस प्रकार हैं –

(i) **धनुष** –ये चार प्रकार से बनाये जाते थे।

(i) ताल (ताड़ का बना हुआ)

(ii) चाप (अच्छे बास का बना हुआ)

(iii) दाख (मजबूत लकड़ी का बना हुआ)

(iv) शाडर्ग (सींगो का बना हुआ)

आकृति व क्रिया भेद से इनके कार्मुक, कोदण्ड व द्रूण नाम है। मूर्वा, आँख, सत्गबेधुकावेणु (राम बाँस) व ताँत जिससे मजबूत धनुष की डोरी बनती हैं।

(ii) **बाण** –बाण के भी अनेक भेद है जो इस प्रकार हैं।

(i) वेणु (बाँस)

(ii) शर (नरसल)

(iii) शलाका (मजबूत लकड़ी)

(iv) दण्डासन (आधा लोहा आधा बाँस)

(v) नाराच (सम्पूर्ण लोहे का)

इस बाणों के अग्र भाग में लोहे, हड्डी तथा मजबूत लकड़ी की बनी नोक छेदने, काटने, आघात पहुँचानें वाला रक्तसहित एवं रक्तरहित घाव करने के लिए लगी रहती थी।

(iii) **सुरक्षात्मक अस्त्र** –कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक कवचों का उल्लेख किया गया है जो निम्न है।

(i) लौहजाल (सिर से पैर तक ढकने वाला)

(ii) लौह जालिका (सिर के अलावा सारे शरीर को ढकने वाला)

(iii) लोहापट्ट (बाहों को छोड़कर सारे शरीर को ढक देने वाला)

(iv) लौह कवच (केवल पीठ व छाती ढकने वाला)

(v) सूत्र कंकड (सूत्र का बना कवच)

(vi) मछली, गैंडा, हाथी, गाय के खुर व सींगों से बना कवच

(vii) शिरस्त्राण (सिर को ढकने वाला)

(viii) कंठबाण (गले को ढक देने वाला)

(ix) कूर्पास (आधी बाहों को ढक देने वाला)

(x) कंचुक (घुटनों तक शरीर को ढकने वाला)

(xi) वास्वाण (सारी देह को ढकने वाला)

(xii) पट्ट (बिना बाहों एवं लोहे का कवच)

(xii) नागोपारिका (केवल हाथ की उंगलियों की रक्षा करने वाला)

ये आवरण देह में धारण किये जाते थे। इसके अतिरिक्त चमड़े की पेटी, लकड़ी का पट्टा, सूत की पेटी धमनिका, किटिका आदि का भी उल्लेख चाणक्य ने किया है।

12.4 युद्ध में नैतिकता का सिद्धान्त

प्राचीन भारत में, धार्मिक और अधार्मिक युद्धों के मध्य भेद पर अधिक बल दिया गया। वास्तव में इसके पीछे ये विचार था कि संग्रामों को सीमित किया जाय और इसे केवल संग्राम स्थल और योद्धाओं तक सीमित किया जाय। योग्य सैनिक न्यायपूर्ण तरीके से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त होते थे। ऐसे मसलों में उस तत्व पर ध्यान केन्द्रित किया गया कि राजा अधिकतम हिंसा का प्रयोग न करें। ऐसा भी प्रयास किया गया जो सैनिक संग्राम में बुरी तरह जख्मी हो जाते थे या मृत्यु के कगार पर होते थे उन्हें अधिक जख्म नहीं देना चाहिए। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या आधुनिक युद्ध अपने स्वरूप में नैतिक है, ये एक वाद–विवाद का प्रश्न है।

जहॉ तक मान्य धर्मसंहिता का प्रश्न है उसके नियम ना केवल कुछ सामान्य वैधानिक सिद्धान्तों को निर्मित करते हैं बल्कि धार्मिक कानून का भी विकास करते हैं जिनका पालन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। अन्य विशेषज्ञों द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों का लगभग वही आधार है। प्राचीन समय में, प्रत्येक क्षत्रिय को इन नियमों को व्यवहारिक ढंग से पालन करना पड़ता था और युद्ध के संचालित नियमों के आधार पर यह महसूस किया गया कि गतिशील और बढ़ते हुए मानव समाज में संग्राम अपरिहार्य है। ऐसे में मनु व्यक्त करते हैं कि क्षत्रिय का यह पवित्र कार्य होता था कि युद्ध में न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार शत्रु के विरूद्ध संग्राम करे।

अतः मनु से पूर्व और बाद के काल में यह देखा गया कि सभी योद्धाओं को संग्राम न्यायिक सिद्धान्तों के अनुसार युद्ध लड़ना होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन राजा अन्यायिक युद्धों से अवगत थे। किस तरह न्यायिक युद्ध अन्यायिक युद्ध से भिन्न था। ये ग्रोसियस के लेखों में देखने को मिलता है। ग्रोसियस ने भी न्यायिक और अन्यायिक युद्ध पर विशेष बल दिया। उसने माना कि राज्य के सम्पूर्ण अधिकार के तहत युद्ध में भाग लेना न्यायिक युद्ध होता था जो कि अन्यायिक युद्ध के विपरीत होता है। ये प्राचीन भारतीय युद्ध कला के विचार से मिलता है जहाँ हिन्दू–विधिवेत्ताओं ने युद्ध क्रम के तार्किक और मानवीय नियमों पर विशेष बल दिया।

प्राचीन भारत में युद्ध के नियमों ने नागरिक और युद्धरत के मध्य स्पष्ट भेद को दर्शाया है। नैतिकता के सिद्धान्त पर बल देते हुये मनु कहते हैं कि निम्नलिखित व्यक्तियों को संग्राम में नहीं मारना चाहिए जो सैनिक पैदल हों यानि की दूसरा पक्ष रथ पर सवार हो, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए व्यक्ति, (जीवन की भीख मांग रहा हो), जिसके बाल अस्त–व्यस्त हो, जो संग्राम से हट चुका हो, जिसने आत्मसमर्पण कर रखा हो, जो सोया हुआ हो, जो निःशस्त्र हो, जो युद्ध के प्रति अनिच्छुक हो, जो मात्र दर्शक हो और जो दूसरे के साथ संघर्ष कर रहा हो।

मनु आगे कहते हैं कि निम्नलिखित व्यक्ति को भी नहीं मारना चाहिये ऐसा व्यक्ति जिसकी भूजा टूटी हो, जो पुत्र का शोक कर रहा हो, जिसका शरीर बाणों से छलनी हे चुका हो, जो युद्ध से भयभीत हो और युद्ध करने के लिये अनिच्छुक हो। महाभारत और मनुस्मृति में जहरीले अस्त्र–शस्त्र का प्रयोग निषेध था। इसके पीछे यह विचार था कि ऐसे शस्त्रों के प्रयोग से कष्टों तथा यातनाओं को समाप्त किया जा सके।

आज तक यह स्पष्ट नही है कि प्रत्येक प्राचीन समय के नियम क्या अभी भी वर्तमान युद्ध में प्रासंगिक हैं। वर्तमान समय में राष्ट्र अपने को अच्छे शस्त्रों से सुज्जित करने के लिये एक दूसरे से होड़ में लगे हुए हैं। इसका सबे अच्छा उदाहरण जब 1945 में हिरोशिमा और नागाशाकी में अणु बम गिराया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद और संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के पश्चात् आण्विक शस्त्रों का निषेध पूर्णरूप से सफल नहीं हो पाया है। युद्ध के ऐसे उपकरणों को निषेध करना प्राचीन भारतीय नियमों की प्रशंसनीय पहल के रूप में देखा जा सकता है। शत्रु का व्यापक विनाश अन्यायिक युद्ध का हिस्सा था। इसलिए प्राचीन भारत में इसका कभी भी अनुमोदन नहीं किया गया था। वर्तमान समय में आधुनिक विधिवेत्ताओं का

ऐसा विचार है कि व्यापक विनाश तभी सम्भव है जब एक राष्ट्र अपनी आत्म रक्षा के लिय लड़ रहा हो।

12.5 युद्ध के परिणाम

युद्ध के विषय में मनु ने बहुत ही रोचक विचार व्यक्त कियें हैं। मनु ने युद्ध और राजा के मध्य सम्बन्धों का वर्णन इस तरह से किया कि राजा और प्रजा कि आन्तरिक एवं बाह्य खतरों से कैसे सुरक्षा की जा सके? संरक्षण (Protection) शब्द का प्रयोग जनपद में स्थिरता लाने के लिये किया गया। यह अवधारणा अति प्राचीन है। प्रोफेसर मैकडोनेल (Macdonel) और कीथ (Keith) ने यह दर्शाया कि वैदिक साहित्य में नाथ (Nath) शब्द का प्रयेग हुआ जिसका अर्थ सम्भवतः न्यूटर होता है। लेकिन वैदिक काल इसका प्रयोग पुरूष लिंग में किया गया जिसका तात्पर्य संरक्षण (Protection) है और यह बड़ी सामान्य बात थी।

मनु ने युद्ध को न्यायिक, सही तथा धार्मिक तभी माना जब राज्य की महान् भावना यथा परिवार के सम्मान की रक्षा, जनकल्याण, महसूस करना कि राज्य के लिये शहीद होना गर्व की बात थी। युद्ध से भागने को अपमान समझा जाता था। युद्ध में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना और आखिरी योद्धा तक लड़ना होता था।

प्राचीन भारत में सामान्यतः यह देखा गया है कि प्रजा ने राजा को एक पिता के रूप में देखा। प्रो0 होपकिन्स का सुझाव है प्रजा के लिए एक राजा का पिता के रूप में होना अर्थहीन नही था परन्तु यह माना गया कि राजा पहले से प्रारम्भिक सभाओं में एक पिता के कर्तव्य का निर्वहन करता आया है। यह केवल पिता ही है जो अपने बच्चों और आश्रितों की रक्षा स्वयं करता था। मनु ने यह भी माना कि राजा को इसलिये बनाया गया जिससे वह वर्ण और व्यवस्था को सुरक्षा प्रदान कर सके। अन्य चिन्तकों की तरह मनु का भी मत था कि राजा को चाहिए कि वह युद्धोपयोगी सामग्री तैयार करने वाले कारीगरों व कुशल शिल्पियों के द्वारा युद्ध में काम देने वाले, दुर्ग की रक्षा हेतु, नगर को विध्वंस करने वाले सर्वतोभद्र (मशीनगन), जामदग्न्य आदि यन्त्र शक्ति, धनुष, कवच, सवारी आदि जितने भी साधन है उनका निर्माण कराये। अध्यक्ष को चाहिए कि सामान पर जंग आदि न लगे इसलिए उनको धूप, हवा भी दिखते रहे। गर्मी, सीलन, घुन के कारण जो हथियार खराब हो रहे हो उन्हें वहाँ से उठाकर ऐसे स्थान पर रखवा दे जिससे वे खराब न होने पायें।

12.6 सारांश

प्राचीन भारत में सैन्य चिंतन की अवधारणा बड़ी व्यापक थी। युद्ध–हिंसा, अहिंसा, रणनीति, सामरिकी, सेना का संगठन, हथियार प्रणाली, सैन्य प्रयाण, सैन्य नेतृत्व इत्यादि के सभी पहलू सम्मिलित थे।

12.7. बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत के प्रमुख अस्त्र–शस्त्र कौन–कौन से थे ?
2. युद्ध की रणनीति पर निबन्ध लिखिए।
3. युद्ध में नैतिकता की आवश्यकता क्यों है ?

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धतियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2013
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
3. जायसवाल, काशी प्रसादः हिन्दू राजतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. गोपाल, लल्लन जी : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. त्रिपाठी, हरिहर नाथ : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका।
7. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड), लखनऊ, 1965
8. महाजन, वी. डी., प्राचीन भारत की इतिहास, दिल्ली, 1967

इकाई 13. प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था एवं न्यायिक प्रक्रिया–अपराध विधि एवं अपकृत्य

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

13.3 न्यायालयों के संगठन

13.4 न्यायालयों के प्रकार

13.5 मुख्यन्यायाधीश (प्राङ्विवाक)

13.6 अन्य न्यायाधीश

13.7 सारांश

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.9 बोध प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

न्यायदान–पद्धति आधुनिक युग में शासन प्रणाली का एक महत्वपूर्ण अंग है। अपराधियों को दण्डित होते देखकर ही सामान्य नागरिक राज्य के सामर्थ्य से परिचित होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि न्यायालय ही राज्य की प्रभावी शक्ति का देदीप्यमान प्रतीक है।

13.1 उद्देश्य

अपराधियों को दण्डित होते देखकर ही सामान्य नागरिक राज्य के सर्वकष सामर्थ्य से परिचित होता है। न्यायालय ही राज्य की प्रभावी शक्ति का देदीप्यमान केन्द्र होता है। इस इकाई के माध्यम से हम प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

13.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन काल में न्यायालयों का स्वरूप निश्चित नहीं था। प्राचीन काल में विश्व के किसी भी समाज में न्याय व्यवस्था का कोई सार्थक स्वरूप नहीं मिलता। न्याय प्रशासन पूर्णतः व्यक्तिगत मामला था। समुदाय यहा–कदा इसमें सहायता पहुँचाते थे। समुदाय के नियम बहुधा मान्य थे। प्राचीन भारत सहित यूरोपिय देशों में भी यह प्रथा थी कि क्षतिग्रस्त मनुष्य अपराधी के मकान के सामने तब तक धरना कर बैठै व उसको बाहर जानें से रोके जब तक अपराधी उसे उचित मात्रा में मुआवजा देने को तैयार न हो।

न्यायालय का विकास समुदाय के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। जिसमें वयोवृद्ध मामलों का निबटारा करते थे। ये वृद्ध सभा में पीड़ित व्यक्ति को उनका हक प्रदान कराने का पूर्ण प्रयास करती थी किन्तु उनके निर्णयों का अनुपालन वादी एवं प्रतिवादी पक्ष पर निर्भर करता था। बदलते हुए सामाजिक परिवेश में प्रधानों एवे वृद्ध सभाओं की न्यायिक शक्ति में क्रमशः वृद्धि होती गयी। छोटे–छोटे घरेलू झगड़ों से लेकर डकैती तक के मामले उनके पास आने लगे। वह दण्ड के साथ क्षतिपूर्ति का भी आदेश देता था और उस आदेश का पालन कराने का प्रयत्न भी करता था। समाज के सदाचार उस के न्याय के प्रमुख आधार थे। दोनों पक्षों का बयान सुनने के बाद ही वह सभा की राय से निर्णय देता था। इसके साथ प्रधान की शक्ति राजशक्ति का रूप धारण कर लेती है और वृद्ध सभा को उसमें समाविष्ट कर उसे राजसभा

का रूप दे दिया जाता है। अन्ततः राजा के न्याय का रूप आ जाता है और राजा स्थानिक प्रशासन का प्रधान बन जाता है।

वैदिक वाङ्मय में अदालतों या न्यायालयों के निर्देश नहीं मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय में प्रधान न्यायाधीन की हैसियत में राजा का उल्लेख नहीं मिलता है, न दीवानी या फौजदारी अदालतों का।

चूंकि वेदोत्तर काल में राजा प्रधान न्यायाधीश का काम करता था इसलिए यदि हम चाहें तो यह अनुमान कर सकते हैं कि वैदिक काल में भी ऐसी ही परिस्थितियाँ रहीं होगी किन्तु यह निष्प्रमाण हैं। अर्थशास्त्र एवं धर्मसूत्रों में पूर्ण विकसित न्यायदान–प्रणाली का चित्र मिलता है। यह विकास बीच के काल में कैसे हुआ यह स्पष्ट नहीं है।

इस समय न्यायालयों का मुख्याधिपति राजा था और वह स्वयं प्रतिदिन न्यायदान करता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (1/19) में लिखा है कि – दिन के दूसरे भाग में (दिन को 8 भागों में बाँटा गया था) राजा को पौर जनपदों (नगरवासियों एवं ग्रामवासियों) के झगड़ों को निपटाना चाहिए। राजा के सामने केवल महत्व के ही मुकदमें रखे जाते होंगे। सामान्यतः राजा के सामने अंतिम अपील विचारार्थ ही आती थी।

नारदस्मृति के अनुसार –

ग्रामे दृष्टः पुरे याति पुरे दृष्तस्तुराजनि।

राजा दृष्टः कुदृष्तो वा नास्ति पौनर्भुवो विधि।।

अर्थात् 'ग्राम न्यायालय में निर्णय होने के बाद अयशस्वी व्यक्ति नगर न्यायालय में अपील कर सकता था, नगर न्यायालय के विरूद्ध राज्य न्यायालय में अपील कर सकता था, किन्तु राजा का न्यायनिर्णय ठीक हो या न हो, इसके विरूद्ध अपील नहीं की जा सकती थी।

राजा का कर्तव्य था कि वह न्यायदान में बिल्कुल निष्पक्ष रहें, स्मृति प्रणीत विधिनियमों के अनुसार न्याय करना उसका कर्तव्य था। राजा के न्यायालय को धर्मासन, धर्मस्थान, धर्माधिकरण कहा जाता था।

13.3 न्यायालयों के संगठन

प्रारम्भिक वैदिक काल में सभा और समिति ही न्यायालय की भूमिका में थी। ऋग्वेद में यह उल्लेख मिलता है कि राजा प्रजा से कर लेता था। इसलिए वह उसे न्याय प्रदान करता था। इन दिनों लोगों का जीवन सामान्य और सरल था। इसलिए विवाद की संभावना प्रायः कम ही रहती थी। अतः बहुत अधिक न्यायालयों की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए किसी पृथक न्यायालयों का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता । राजा ही एकमात्र न्यायालय था। उत्तर वैदिक काल में न्याय का ये मुख्यतः राजा के अधीन रहा होगा। धर्मसूत्रों स्मृतिग्रन्थों, महाग्रंथों, पालि सहित्य तथा जातक ग्रन्थों में न्याय के प्रधान के रूप में राजा के अधिकारों एवे कर्तव्यों का उल्लेख है। मेगस्थनीज ने भी मौर्य राजा के न्याय कार्यो का उल्लेख किया है।

स्मृतियों का कहना है कि अकेले राजा न्याय कार्य नहीं कर सकता उसे अन्य लोगों की सहायता से न्याय करना चाहिए। मनु, याज्ञवल्क्य एवं नारद सभी ने यह बात दुहराया है।

मनु (8/1–3) ने भी लिख है– लोगों के झगड़ों को निपटाने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणों एवं मंत्रियों के साथ सभा (न्याय–भवन) में प्रवेश करना चाहिए और प्रतिदिन झगड़ों के कारणों को तय करना चाहिए।

कात्यायन ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि– जो राजा न्यायाधीश, विद्वान, ब्राह्मणों, पुरोहितों एवं सभ्यों की उपस्थिति में विवाद का निर्णय करता है वह स्वर्ग का भागी होता है। महाभारत में भी कई लोगों की सहायता से किये गये न्याय की प्रशंसा की गयी है।

अतः स्पष्ट है कि राजा प्रायः मुख्य न्यायाधीश मंत्रियों तथा विधि विशेषज्ञों की सहायता से ही न्यायकार्य करता था। राजा के न्यायालय का अभ्युदय सभा अथवा परिषद से माना जाता है, जिनका अस्तित्व वैदिक काल से ही प्रभावित है।

वैदिक काल में सभा का प्रयोग न्यायालय के रूप में होने लगाा था। एस0सी0 बंद्योपाध्याय और डॉ. केपी. जायसवाल आदि विद्वानों ने सभा का उल्लेख न्यायालय के रूप में ही किया है। प्रारम्भ में सभी का रूप भले ही एक स्वतन्त्र न्यायालय का रहा हो किन्तु राजतन्त्र के क्रमिक विकास तथा राजा की न्यायिक प्रशासन शक्ति के उदय होने पर उसकी न्यायिक शक्ति राजा से सम्बद्ध हो गयी। अन्ततः उसका रूप राज सभा का हो गया। अयोध्या में राज सभा सर्वोच्च

न्याय की संस्था थी। राजा उसका अध्यक्ष होता था। तथापि उसको न्याय निर्णय सभासद के मत के अनुसार ही करना चाहिए। सामान्यतः यह तत्व कार्यान्वित किया जाता था, किन्तु यदि विवाद विषय संदिग्ध हो या उसका निर्णय करने में सभासद असमर्थ हों तब राजा को ही अपने सद्विवेक बुद्धि के अनुसार निर्णय देना आवश्यक होता था। मृच्छकटिक में चारूदत्त के मामलें का जो वर्णन आया हैं उससे प्रतीत होता है। कि सभासद प्रायः अभियुक्त दोषी है या नहीं इतना ही बताते थे। दोषी अपराधी के दण्ड का परिमाण राजा द्वारा निश्चित किया जाता था।

गणराज्यों में मुख्य न्यायालय का न्यायाधीश कौन रहता था? यह कहना कठिन है हो सकता है कि गणतन्त्र का अध्यक्ष मुख्य नयायाधीश का काम भी समकालीन राजा के समान करता होगा। यह भी हो सकता है कि गणतन्त्र का वह मंत्री यह काम करता हो, जिसके अधीन न्याय विभाग था। यह भी शक्य है कि वहाँ भी प्राड्विवाक के समान एक वरिष्ठ न्यायधीश इस काम के लिए नियुक्त किया जाता था।

13.4 न्यायालयों के प्रकार

कौटिल्य ने दो प्रकार के न्यायालयों का वर्णन किया है। धर्मस्थीय और कण्टक शोधन।

1. **धर्मस्थीय न्यायलय** –धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायाधीश को धर्मस्थ कहते थे। इसमें निम्नलिखित प्रकार के वाद विचारार्थ प्रस्तुत किये जाते थे।
    1. व्यवहार स्थापना – व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी मामले।
    2. समयस्यानपाकर्म – आपस में जो समझौते किये गये हों, उनके उल्लंघन के साथ सम्बन्ध रखने वालें मामले।
    3. स्वाभ्याधिकार – स्वामी का अधिकार तथा कर्तव्य सम्बन्धी विवाद।
    4. दासकल्प – दासों के मामले।
    5. महणादानम – महण सम्बन्धी विवाद।
    6. औषनिधिकम् – धन को अमानत पर रखने से उत्पन्न विवाद।
    7. विक्रीत–क्रीतानुशय– क्रय–विक्रय सम्बन्धी मामलें।
    8. साहसम् – डाँके या चोरी के मुकदमें।
    9. दण्डपारुष्यम् – हमला करने के मामले।

10. सीमा विवाद – स्थावर सम्पत्ति के विवाद सम्बन्धी।
11. वास्तुकम – इमारतों के साथ सम्बन्ध रखने वाले झगड़े।
12. विवाह संयुक्तम – विवाह सम्बन्धी विवाद।
13. स्त्रीधन कल्पः – स्त्रीधन सम्बन्धी मुकदमें।
14. विवाह धर्मः पति–पत्नी सम्बन्धी विवाद।
15. दायविभागः – सम्पत्ति के बँटवारों और उत्तराधिकार विषयक विवाद।

इस प्रकार देखते है कि धर्मस्थीय न्यायालयों के अन्तर्गत केवल उनहीं अभियोगों, प्रतिवेदनों आदि को रखा गया है जो दो दलों के बीच के झगड़ों से सम्बन्धित थे।

2. **कष्टकशोधन –**इस न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहते थे। इन में जिन मामलों का विचार किया जाता था वे इस प्रकार थे–
   1. कारूकरक्षणम् – शिल्पियों और कारीरगरों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा।
   2. वैदेहक रक्षणम् – व्यापारियों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा।
   3. उपनिपात प्रतिकार – राष्ट्रीय और सार्वजनिक विपत्तियों के निराकरण के मामले।
   4. कन्यापकर्म – कन्याओं के बलात्कार के मुकदमें।
   5. अतिचारदण्ड – विविध प्रकार की मर्यादाओं को अतिक्रमण करने पर मुकदमें एवं दण्ड की व्यवस्था।

कण्टकशोधन वाले अभियोग राजा अथवा राजकर्मचारियों द्वारा उपस्थित किये जाते थे और वे राज्य से सम्बन्धित होने के कारण फौजदारी (Criminal) माने जाते थे, क्योंकि उसका सीधा लगाव विशेषतः अपराधों के नष्ट करने से था।

उपर्युक्त दो प्रमुख न्यायालयों के अतिरिक्त कौटिल्य ने ग्राम सभाओं के माध्यम से भी न्याय निर्णय करने का उल्लेख किया है। कृषक, गोपालक, वृद्ध तथा अन्य अनुभवी लोग ग्राम सभाओं के सदस्य होते थे जिनका कार्य घर, खेती, बाग, सीमा विवाद सम्बन्धी मामलों का निर्णय करना होता था। नारद ने नारद स्मृति में लिखा है कि राजा जो भी निर्णय देता था वह अन्तिम होता था।

13.5 मुख्यन्यायाधीश (प्राड्विवाक)

प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश) – धर्मशास्त्रों में सभा का उल्लेख राजा के न्यायालय (केन्द्रीय न्यायालय) के रूप में हुआ है। प्रारम्भिक साहित्य में प्राड्विवाक का उल्लेख एक सामान्य कर्मचारी के रूप में मिलता है। किन्तु धर्मशास्त्रों में उसका उल्लेख मुख्य न्यायाधीश के रूप में पाया जाता है। मेधातिथि ने इस शब्द की उत्पत्ति मुख्य विवाक शब्द से मानी है, जिसका तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो प्रश्नों की व्याख्या करें। अतः प्रारम्भ में इसका कार्य वादी–प्रतिपादी से वाद से सम्बन्धित अपेक्षित प्रश्न करना होता था। किन्तु आगे चलकर वह उच्च न्यायाधीश बन गया और यह मंत्रिपरिषद का सदस्य हो गया।

प्राड्विवाक की योग्यतायें –शास्त्रकारों ने प्राड्विवाक की पद के गरिमा के अनुकूल उसकी योग्यताओं पर विशेष बल दिया है। उसके लिए उदार, विद्वान, कुलीन, स्थिरमति तथा क्रोध रहित वृद्ध होना अनिवार्य बताया गया है।

नारद के अनुसार – उसे दण्डनीति में कुशल तथा श्रुति – स्मृति में पारंगत होना चाहिए। जिस प्रकार सर्जन शल्य प्रयोग करके शरीर में घुसे हुए लोहें के टुकड़े निकाल लेता है। उसी प्रकार कुशल न्यायाधीश को पेंचीदे मामलें में से धोखें की बात अलग निकाल लेनी चाहिए।

कात्यायन स्मृति तथा मानसोल्लास में भी न्यायाधीश के इन्ही गुणों की चर्चा की गयी है।

शुक्रनीति में कहा गया है कि प्राड्विवाक लोक शास्त्र और नीति का ज्ञाता होता था– लोकशास्त्र न यज्ञस्तु प्राड्विवाक स्मृतिः सदा। राजा की अनुपस्थिति में यह अन्तिम निर्णय देता था।

अन्य न्यायाधीश एवं उनकी योग्यतायें – मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि लगभग सभी धर्मशास्त्रकारों ने यह विधान किया है कि राजा को प्रधान न्यायधीश की सहायता के लिए कम से कम तीन सभ्यों (जजों) की नियुक्ति करनी चाहिए। कौटिल्य ने भी लिखा है कि धर्मस्थीय (Civil Court) में धर्मस्थ नामक तीन न्यायधीशों की नियुक्ति करनी चाहिए। वृहस्थिति के मत से किसी न्ययालय में सभ्यों की संख्या 7, 5 या 3 हो सकती है।

शुक्र के अनुसार राजा का प्राड्विवाक भी तीन, पाँच या सात सभासदों के सहायता के बिना किसी मामले का विचार नहीं कर सकते थें।–

लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सात पच वयोऽपि वा।

यत्रोपविष्टा विप्रा स्यु सा यश्रसदृशों सभा।। शुक्र 4.5.26

सभासदों की संख्या इसलिए विषम रखी गयी थी कि एकमत के अभाव में मताद्विक्य को स्वीकार करना आसान हो।

सभ्य भी प्रायः ब्राह्मण होते थे किन्तु आवश्यकतानुसार क्षत्रिय और वैश्य भी हो सकते थे। परन्तु किसी भी दशा में शुद्र नही। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने सभ्यों के गुणशील पर विशेष जोर दिया है और लिखा है कि वेदज्ञ धर्मशास्त्र में पारंगत, सत्यवादी, पक्षपाता रहित कर्तव्यशली, बुद्धिमान, कुलीन तथा अर्थशास्त्र में पारंगत व्यक्ति को ही सभ्य बनाया जाय।

न्यायालयों के संगठन के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट व प्रामाणिक परिचय कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में मिलता है। कौटिल्य ने बड़े विस्तार के साथ अपराधों का वर्णन किया है। उनकी तालिका की विशालता आधुनिक भारतीय दण्ड विधान की विशालता से कम नहीं है।

13.7 सारांश

प्राचीन भारत में न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित किये जाने वाले विधि नियम शास्त्र सम्मन एवं प्रायः सदाचार तथा रूढ़ियों पर निर्भर थे। रूढ़ि एवं परम्परा समाज नियमों में धीरे–धीरे बदला करती थीं और उनका स्वीकरण समाज द्वारा किया जाता था तथा वे न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित किये जाते थे।

13.8 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत में कितने प्रकार के न्यायालय थे?
2. मुख्य न्यायाधीश के बारे में आप क्या जानते हैं?
3. प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिए।

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धतियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2013
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992

3. जायसवाल, काशी प्रसादः हिन्दू राजतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. गोपाल, लल्लन जी : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. त्रिपाठी, हरिहर नाथ : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका।
7. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड), लखनऊ, 1965
8. महाजन, वी. डी., प्राचीन भारत की इतिहास, दिल्ली, 1967

इकाई 14. मौर्य पूर्व राजव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

14.3 गणराज्यों का विकास

14.4 गणराज्यों की विशेषताएँ

14.5 गणराज्यों का संविधान

14.6 गणराज्यों की व्यवस्थापिका सभा की कार्यप्रणाली

14.7 गणप्रमुख

14.8 गणराज्य व्यवस्था के गुण एवं दोष

14.9 सारांश

14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.11 बोध प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में राज्य के शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए शासन व्यवस्था या प्रशासन पद्धति पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया। प्राचीन भारतीय शासन–व्यवस्था का स्वरूप विभिन्न चरणों में विकसित हुआ प्रतीत होता है। हड़प्पा संस्कृति के स्थलों के उत्खनन से विदित होता है कि नगर के पश्चिम में स्थित दुर्ग से संभवतः प्रशासनिक गतिविधियों का संचालन होता था। सड़कों के व्यवस्थित क्रम, ईटों के आकार में समानता, नगरों की स्थापना, मापों–बाँटों के मानक रूप, लिपि की समरूपता आदि से ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा संस्कृति में एक केंद्रीयभूत सत्ता अस्तित्व में थी। नगरों में समुचित सफाई का प्रबंध, नालियों की व्यवस्था एवं एक निश्चित दूरी पर प्रकाश स्तंभों की उपस्थिति से इस संस्कृति में स्थानीय शासन इकाई के अस्तित्व का भी अनुमान लगाया जाता है।

14.1 उद्देश्य

भारत में शासन व्यवस्था का उद्‌भव सुदूर अतीत में ही हो चुका था। मौर्यों के पूर्व भारत में गणराज्य शासन प्रणाली का प्रचलन हो चुका था। इस इकाई में हम छठीं शताब्दी ई. पू. में भारत में प्रचलित गणराज्यों की शासयन व्यवस्था का अध्ययन करेंगे।

14.2, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वैदिक काल में राजतंत्रीय व्यवस्था थी, जिसमें सभा, समिति और विदथ जैसी संस्थाएँ राजा को राज–काज में परामर्श देती थीं। इस काल में राजकीय कार्यों में राजा की सहायता के लिए पुरोहित, सेनानी, युवराज, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षता, संग्रहीतृ, भागदुध, अक्षबाप, गोविकर्तृ, पालागल, दूत, पुरप, स्पश आदि 'राजकीय पदाधिकारी होते थे। इससे प्रकट होता है कि वैदिक काल में प्रशासनिक संगठन का रूप स्थिर होने लगा था।

महाजनपद काल में राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों शासनपद्धतियाँ अस्तित्व में रहीं। राजतन्त्र में राजा की सहायता करने वाले अधिकारियों में उपराजा, माण्डलिक राजा, सवार्थक महामात्र, सेनापति, व्यावहारिक महामात्र एवं ग्राम भोजक के नाम मिलते हैं। गणतंत्र में संथागार जैसी संस्था के साथ–साथ राजा, उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक, अट्‌ठकुलक, सूत्रधार, व्यावहारिक, विनिश्यच महामात्र आदि पदाधिकारी ज्ञात होते है।

14.3 गणराज्यों का विकास

वैदिक काल से लेकर गुप्त काल तक गणराज्य भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण रहे। गणराज्यों की परम्परा भारत में अति प्राचीन काल से विद्यमान रही है। इन गणराज्यों में स्वतंत्रता की भावना एवं उत्कृष्ट देशभक्ति प्रशंसनीय थी। विदेशी आक्रमणकारियों से भारत भूमि की रक्षा जिस लगन, त्याग और शौर्य से गणराज्यों ने की, उतना शौर्य राजतंत्र नहीं दिखा सके। सिकन्दर, शक तथा हूणों से इन्हीं गणराज्यों ने लोहा लिया। प्राचीन भारत के प्रमुख गणराज्यों के संबंध के विभिन्न प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। इनमें साहित्यिक साक्ष्य एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य, जिनमें मुद्रा, अभिलेख तथा उत्खनन इत्यादि से प्राप्त साक्ष्य प्रमुख हैं। गणराज्यों के विस्तृत अध्ययन के लिए ब्राह्मण ग्रंथ, बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में उल्लिखित गणराज्यों से सम्बन्धित विवरणों का अध्ययन अत्यावश्यक है।

गणराज्यों का सर्वप्रथम उल्लेख वैदिककाल से ही मिलता है। प्रो. ए0 एस0 अल्तेकर का मत है, "ऋग्वेद के अंतिम सूक्त में प्रार्थना की गयी थी कि समिति की मंत्रणा एक मुखी हो, सदस्यों के मन भी परम्परानुकूल हों और निर्णय सर्वसम्मत हों। इस सूक्त का संकेत गणतंत्र की समिति के लिए भी हो सकता है। यह समिति बाद में जाति की समिति बन गयी और क्षत्रिय गणराज्यों में परिवर्तित हो गयी। गणराज्य प्राचीन भारत में लगभग 1000 वर्ष तक अपने अस्तित्व को किसी न किसी रूप में कायम रख सके।

वैदिक काल में गण एक प्रकार का संगठन था, जिसमें उसके सदस्य विचार विमर्श करते थे। सामूहिक रूप से मिलते–जुलते थे और आवश्यकता पड़ने पर संगठित रूप से सैनिक कार्य का सम्पादन भी करते थे। वैदिक काल में गण एक सामूहिक संस्था के रूप में था और गणपति इसका प्रधान हुआ करता था। गणराज्य का अर्थ समूह द्वारा संचालित राज्य माना गया है।

विकास के चरण

प्राचीन भारत में गणराज्य व्यवस्था के विकास को केवल ऐतिहासिक काल में ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गणराज्यों के विकास को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम काल – 400 ई.पू. तक

द्वितीय काल – 350 से 300 ई.पू. तक

तृतीय काल – 150 ई.पू. से 350 ई. तक।

प्रथम काल के गणराज्यों को बौद्ध साहित्य में विवेचित किया गया है। इन्हें गण या संघ के रूप में उल्लेखित किया गया है। इनमें सुंसुमारगिरि के भग्ग, अल्लकप्प के बुलि, केशपुत के कलाम, पिप्पालिवन के मोरिय, रामग्राम के कोलिय, कुशीनारा के मल्ल, पावा के मल्ल, कपिलवस्तु के शाक्य, मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छिवि थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कपिलवस् के शाक्य, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छिवि थे। कालान्तर में मिथिला के विदेह तथा वैशाली के लिच्छिवि मिल गये और वज्जि संघ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन गणों में परस्पर संघर्ष होता रहता था। इन गणराज्यों में स्वतंत्रता की भावना बहुत प्रवल होती थी।

गणराज्यों के विकास का द्वितीय काल 350 से 300 ई.पू. तक चला। इस काल में पटल, अराट, मालव, क्षुद्रक, सम्यष्टई, आगलस्सोई तथा निसोई अस्तित्व में थे।

विकास का तृतीय काल 150 ई.पू. से 350 ई. तक चला। इस काल में यौधेय, मालव, कुनिन्द एवं वृष्णि गणराज्य दक्षिण पंजाब, राजपूताना और मालवा में स्थित थे।

प्रो. ए0 एस0 अल्तेकर के अनुसार 500 ई.पू. से 400 ई. तक पंजाब और सिन्धु घाटी में गणराज्यों का अस्तित्व था। 200 ई.पू. से लेकर 400 ई. तक आगरा और जयपुर प्रदेश में अर्जुनायन गणराज्य का अस्तित्व रहा। सहारनपुर से पश्चिम की ओर भागलपुर तक और उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण पूर्व में दिल्ली तक यौधेय गणराज्य अस्तित्व में रहा। मालव और क्षुद्रक गणराज्यों ने सिकन्दर के आक्रमणों का प्रवल विरोध किया।

14.4 गणराज्यों की विशेषताएँ

गण शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से गणराज्य के लिये किया गया है–

1. गणराज्यों में मान्यता थी कि समस्त धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक विधियां ब्राह्मणों द्वारा रचित हैं। जिनकी व्याख्या करने का अधिकार राज्य को नहीं है।
2. गणराज्यों की राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव कुलधर्म के अनुसार होता था।
3. गणराज्य के राजा के चुनाव की विधि स्पष्ट नहीं है। परन्तु अनुमान के आधार पर वह राज्य सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होता होगा।

4. गणराज्यों की न्याय व्यवस्था धर्मशास्त्रों पर आधारित व संचालित थी। न्यायाधीश विद्वान व समदर्शी होते थे।
5. राज्य की सर्वोच्च सत्ता विधि में निहित होती थी। राज्य का अर्थ विधि को क्रियान्वित करना था। वास्तव में राज्यसभा सर्वोच्च संस्था थी। जो जनता के प्रति उत्तरदायी थी।
6. राज्यसभा, राजा से भी उच्च होती थी। समस्त प्रशासनिक सत्ता उसे प्राप्त थी।
7. गणतंत्र के संगठन पर विशेष बल दिया जाता था। । गण व्यवस्था में व्यक्तिगत गुणों को सर्वाधिक सम्मान प्राप्त होता था।
8. राज्यों में भाषण की स्वतंत्रता प्रजा को प्राप्त होती थी। सभासद, अध्यक्ष व अन्य पदाधिकारियों की आलोचना प्रजा कर सकती थी। व

अतः प्राचीन भारत में श्रेष्ठ गणतंत्रीय व्यवस्था विद्यमान थी। जिसकी शासन व्यवस्था व संचालन श्रेष्ठ था।

14.5 गणराज्यों का संविधान

गणराज्य की संगठन व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी का अभाव है। तथापि विविध गणतंत्रों के संबंध में प्राप्त उल्लेखों से उनके विधान और शासन संगठन का ऑकलन किया जा सकता। महाभारत के अनुसार, गणराज्यों में प्रतिनिधित्व, जाति एवं कुलों के आधार पर होता था। शांति पर्व के अनुसार गणराज्यों में जाति एवं कुल के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति समान । महाभारत काल में भारत के उत्तर और पश्चिम में बहुत से गणराज्य थे जिनका उल्लेख महाभारत के सभापर्व और वन पर्व में किया गया है। महाभारत कालीन गणराज्यों की राज्यसभा के सदस्य अर्थात गृहपति और कुलपति का चुनाव, कुल धर्म के अनुसार किया जाता था। कुलधर्मों को राज्य द्वारा मान्यता दी जाती थी और स्वतंत्रतापूर्वक कुलपति और गृहपति का चुनाव करते थे। सामान्य रूप से घर के वयोवृद्ध व्यक्ति को गृहपति बनाया जाता था। गणराज्य के अध्यक्ष का चुनाव किस प्रकार किया जाता था। यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी यह अनुमान है कि यह चुनाव केन्द्रीय समिति (राज्यसभा) के सदस्य ही करते होंगे, क्योकि गणराज्य का संगठन और कार्य बहुमत पर आधारित था। गणराज्यों की न्याय व्यवस्था धर्मशास्त्रों के अनुसार की जाती थी।

गणराज्यों की व्यवस्थापिका शक्ति को राज्य के अंगों से अलग रखा गया था। गणराज्यों की सर्वोच्च सत्ता वैधानिक रूप से तो विधि में निहित थी और राज्य का कार्य विधि

को क्रियान्वित करवाना था। वास्तविक रूप से केन्द्रीय समिति (राज्य सभा) ही सर्वोच्च राजनीतिक व्यवस्था थी। गणराज्यों की जनता द्वारा निर्मित होने के कारण इसका उत्तरदायित्व जनता के प्रति होता था। राज्य सभा की सत्ता राजा से भी उच्च थी। उसे समस्त प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। राज्यसभा अथवा केन्द्रीय समिति को शासन व्यवस्था करने सम्बन्धी अंतिम निर्णय लेने का अधिकार था प्रशासकीय अधिकार राजा के हाथ में होता था। जो युद्ध के समय सेनापति के दायित्व का निर्वहन करते थे।

प्राचीन भारतीय गणराज्यों को संगठन व्यवस्था के आधार पर दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम वे गणराज्य जिनमें द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका होती थी, तथा द्वितीय वे गणराज्य जिनमें केवल एक ही प्रतिनिधि सभा होती थी। गणराज्यों में सामान्यतया कुलीनतंत्रात्मक व्यवस्था कायम थी अर्थात प्रतिनिधि सभा में प्रत्येक कुल का केवल एक ही सदस्य भाग लेता था। बौद्धकाल के गणराज्यों में प्रतिनिधित्व सीमित हो गया था। लिच्छिवि गणराज्य में 7707 लिच्छिवि कुलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इनमें से प्रत्येक प्रत्येक शासक (राजा) होने का अधिकारी था, उनमें से ही राजा, उपराजा, सभापति, उपसभापति, सेनापति और भाण्डागारिक बनते थे। जो प्रमुख शासनाधिकारी थे।

गणराज्यों की संगठन व्यवस्था को बौद्ध संघों की संगठन व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। बौद्ध संघों की संगठन व्यवस्था निश्चित रूप से सदियों पूर्व से अस्तित्व में रहे गणराज्यों की संगठन व्यवस्था पर आधारित थी। जिसमें व्यापक रूप से निर्वाचन प्रणाली थी।

बौद्ध साहित्य में तत्कालीन गणराज्यों के संगठन के सम्बन्धित जो सूचना प्राप्त होती है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि गणराज्यों की जनता को पहले कुलों में विभक्त किया जाता था और फिर प्रत्येक कुल का एक प्रतिनिधि, राज्यसभा का सदस्य बनता था। गृहपति, कुलपति का चुनाव करते थे और कुलपति राज्य सभा के सदस्य हुआ करते थे। गणराज्यों की संगठन व्यवस्था बहुत कुछ बौद्ध संघों की संगठन व्यवस्था से मिलती थी। गणराज्यों में शासन की सर्वोच्च सत्ता को केन्द्रीय समिति को सौंपा गया था। जिसकी सदस्य संख्या विभिन्न गणराज्यों में अलग–अलग थी। समिति का संगठन एक संघागार में किया जाता था। केन्द्रीय समिति द्वारा मंत्रीमण्डल के सदस्यों और सेनानायकों का चयन किया जाता था। विदेश नीति का निर्धारण इस समिति द्वारा किया जाता था। संकट के समय समिति के प्रमुख सदस्यों को दूत बनाकर भेजा जाता था। गणराज्यों के मंत्रीमण्डल के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं

थी। गणराज्यों में स्वायत्त शासन को महत्व दिया जाता था। गणराज्यों में न्याय व्यवस्था पर्याप्त संगठित थी। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में गणराज्यों की न्याय व्यवस्था की प्रशंसा की है।

गणराज्यों का संविधान

विभिन्न गणराज्यों के संविधान भिन्न–भिन्न थे, क्योंकि प्रत्येक संविधान उनकी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के आधार पर निर्मित किये गये थे। बहुसंख्यक गणराज्यों में एकात्मक शासन पद्धति थी, किन्तु लिच्छिवि संघ कई स्वायत्तता प्राप्त जनों का संघ था। प्रत्येक गणराज्य का एक अध्यक्ष या प्रमुख होता था। जिसे वैदिक साहित्य में गणपति, गणस्य राजा भी कहा गया है। गणराज्य का मुखिया या प्रमुख एक निर्वाचित राजा होता था। जो राज्य का प्रधान होता था। लिच्छिवि संघ में भी राज्य का एक निर्वाचित अध्यक्ष (प्रमुख) होता था। जो संघ सभा का सभापति रहता था और राजा की उपाधि धारण करता था। कुछ राज्यों में शासन सत्ता राजकुलों में निहित थी।

गणराज्य में वृद्ध–परिषद् के हाथों और परिषद का दिया जाता किया है कि गणराज्यों में कार्य नों ने के रूप होती थी, जिनमें महत्वपूर्ण निर्णय लिए मंत्र कुछ प्रतिष्ठित कुलमुखता था। के सदस्य नियुक्त करती थी या विधायिका होती थी बहुत बड़ी संख्या में सदस्यगण सम्मिलित होतेथे पाणिनि के अनुसार गणसभ (संप सभा में में समस्त क्षत्रिय होते थे, जो भीतरी शासन के लिए चुने जाते थे और राजन्य कहते थे संघ सभागमा एकसानक में नियमित होती थी जो कि राजधानी में होता था।

गणराज्यों में कुल न्यायालय अस्तित्व में थे। कुल न्यायालयों के निर्णयों की अपील न्यायालय में होती थी।

महाभारत के अनुसार गणशासन में सभी लोग समान माने जाते थे। गणराज्यों के अधीन लोगों को समान अधिकार प्राप्त थे। गणराज्य में कठोर अनुशासन का पालन किया जाता था। महाभारत में संघीय गणराज्यों का विवरण मिलता है जिनका संगठन दो या दो से अधिक छोटे–छोटे गणराज्यों के संघ में सम्मिलित होने से होता था जैसे अंधक, वृष्णिसंध, वज्जि संघ आदि। संघ की सभा में एकत्र होकर संघ के सदस्य शासन संबंधी विषयों पर विचार करते थे और बहुमत से निर्णय लेते थे। इसी निर्णय के अनुसार राज्य का कार्य सम्पादित होता था।

14.6 गणराज्यों की व्यवस्थापिका सभा की कार्यप्रणाली

गणराज्यों की शासन व्यवस्था के विषय में हमारे पास अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं हैं। बौद्ध साहित्य भी इन गणराज्यों की शासन व्यवस्था पर मौन है। परन्तु बौद्ध ग्रन्थ में हमें उनके धार्मिक संगठनों की व्यवस्था प्राप्त हो जाती है। गणराज्यों की शासन प्रणाली का मूल आधार, पूर्ण रूपेण बौद्ध संघीय व्यवस्था पर आधारित था। अगर इसी अवस्था को तत्कालीन गणराज्यों की पद्धति मान तो अनुचित न होगा। इतनी कम जानकारी होते हुए भी हम कुछ साक्ष्यों से गणराज्यों की शासन ज्ञात कर उसका उल्लेख निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

1. केन्द्रीय समिति

गणों या संघों की सर्वोच्च शासन समिति उनके केन्द्रीय स्थान पर होती थी। शासन की सर्वोच्च सत्ता एवं शक्ति केन्द्रीय समिति में निहित हुआ करती थी। केन्द्रीय समिति की सदस्य संख्या विभिन्न गणराज्यों को अपनी जनसंख्या पर आधारित हुआ करती थी। जैसे लिच्छिवि गणराज्य की समिति सदस्य संख्या 7707 व्यक्ति थे जिन्हें 'राजा' कहकर अभिहित किया जाता था। इसी प्रकार यौधेय गणराज्य की समिति में 5000 सदस्यों का उल्लेख हमें मिलता है। सम्भवतः ये सदस्य विभिन्न पदों पर नियुक्त किए जाते थे। इनमें राजा उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक, राजदूत आदि पदों का उल्लेख मिलता है। यह स्पष्ट नहीं कि सम्पूर्ण सदस्य संख्या अधिवेशन में भाग लिया करती थी अथवा कुछ प्रमुख व्यक्ति ही भाग लेते थे। केन्द्रीय समिति मंत्रिमंडल की नियुक्ति, सेनापति का निर्वाचन, विदेशी नीति का निर्धारण आदि कार्य करती थी। इस प्रकार गणराज्यों में केन्द्रीय समिति, सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली संस्था थी। केन्द्रीय समिति का प्रधान गणाध्यक्ष अथवा राजा होता था।

2. मंत्रिमण्डल

गणराज्य के शासकीय कार्यों की देखभाल के लिए मंत्रिमण्डल होता था। गणराज्यों में मंत्रिमण्डल का विशेष प्रभाव था। शासन समिति के सदस्यों की संख्या सहस्त्रों तक होती थी, किन्तु मंत्रिमण्डल के सदस्य साधारणतया 20 से कम ही होते थे। मंत्रिमण्डल के आकार तथा उनकी सदस्य संख्या में भी भिन्नता पाई जाती थी। मंत्रिमंडल के गठन हेतु कोई निश्चित सिद्धांत नहीं था। लिच्छिवि गणराज्य में 9 सदस्यों के मंत्रीमंडल का गठन किये जाने का

उल्लेख प्राप्त होता है। जबकि मल्लों का मंत्रीमण्डल चार सदस्यों वाला था। विदेह राजसंघ का 18 सदस्यों वाला मंत्रीमण्डल था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मंत्रिमण्डल में 4 से कम व 20 से अधिक सदस्य नहीं होते थे। मंत्रिमंडल की नियुक्ति केन्द्रीय समिति किया करती थी वह मंत्रीमण्डल के कार्यों का भी निरीक्षण करती थी। वैदेशिक विभाग का मंत्री सबसे बढ़कर माना जाता था। उसी के ऊपर गण का अस्तित्व विशेष रूप से अवलम्बित होता था। राजकीय आय–व्यय का अधिष्ठाता मंत्री राज्य की समृद्धि के साथ–साथ कोष की वृद्धि की योजनाओं को कार्यान्वित करता था। न्याय मंत्री राज्य में धार्मिक व्यवहार का आयोजन और करता था। राज्य में शांति रखने के लिये अलग मंत्री नियुक्त होता था। वार्ता (कृषि, पशुपालन व्यापार) के लिए एक या अनेक मंत्री होते थे।

मंत्रीमण्डल का प्रधान गणाध्यक्ष अथवा गणप्रमुख (राजा) होता था।''

जिस विषय पर विचार करना होता था संघ में उसे प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया जाता था इस अधिवेशन की सूचना अधिवेशन से एक दिन पूर्व देनी पड़ती थी। इसी सूचना को ज्ञप्ति कहा जाता था। सूचित करने के उपरान्त नियत तिथि पर प्रस्ताव पर वाद विवाद आमंत्रित किए जाते थे। विरोधियों को असहमति प्रकट करनी पड़ती थी। इस प्रकार प्रस्ताव तीन बार स्वीकृत किया जाता था। प्रस्ताव पर मतदान होता था। निर्णय बहुमत के आधार पर घोषित किया जाता था।

मतदान प्रणाली

बौद्ध ग्रन्थों में मतदान के लिए छन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ होता है, मतदान हेतु स्वतंत्रता। अनुपस्थित सदस्यों का मत भी पक्ष में मान लिया जाता था। मत लेने के तीन ढंग थे 1. गुह्यक– जब मतदान अप्रकट रूप से होता था, 2. सकर्णजपर्क जब सदस्य मत संग्रह करने वाले के कान (कर्ण) में अपना मत कहता था, 3. विवतकं– जब मत खुले रूप लिया जाता था।

3. शलाका एवं श्लाकाग्राहक

बौद्ध संघों में प्रचलित मतदान पद्धति से यह ज्ञात होता है कि मतदान के पूर्व संकेत के अनुसार अलग–अलग रंग की शलाकाएँ विभिन्न मतों की अभिव्यक्ति के लिए दी जातीं थीं। ये लाल, सफेद हरे रंग की होती थीं। जिसका मत, प्रस्ताव के पक्ष में होता था, वह हरी

शलाका ऊपर उठता था और विपक्ष वाले लाल शलाका ऊपर उठाते थे। दोनों पक्ष वाले सफेद शलाका ऊपर उठाते थे। इन शलाकाओं को एकत्रित करके वाले व्यक्ति का श्लाकाग्राहक कहते थे।

एकत्रित शलाकाओं की गणना गण प्रमुख करता था और फिर इनकी संख्यानुसार (बहुमत) के अनुसार गण प्रमुख निर्णय देता था। श्लाकाग्राहक का निर्वाचन सर्व सम्मति से स्वीकृत होता था। श्लाका ग्राहक पक्षपात रहित होता था। शलाका ग्राहक में जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती थी। बुद्ध के अनुसार वह निरपेक्ष हो, द्वेषरहित हो, मूर्ख न हो, भयभीत न हो, और जानता हो कि कौन मत लिए गये हैं और कौन नहीं।

14.7 गणप्रमुख

गणराज्य का एक निर्वाचित अध्यक्ष (गणप्रमुख) होता था। यह 'राजा' की उपाधि धारण करता था। गणप्रमुख ही अधिवेशन की अध्यक्षता करता होगा तथा सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही उसी के नियंत्रण में की जाती होगी। गण प्रमुख की सहायता हेतु श्लाकाग्राहक व अन्य अधिकारी होते थे। जो सदस्यों की बैठने व अन्य कार्यों में गण प्रमुख को सहायता देते होंगे।

14.8 गणराज्य व्यवस्था के गुण एवं दोष

गणराज्यों के गुण

प्राचीन भारतीय गणराज्यों की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि गणराज्य अपनी प्रवृत्ति, संगठन तथा संचालन क्षेत्र में निम्न गुणों से युक्त थे–

1. पारस्पारिक सेवा भाव

इन गणों में आपस में एक दूसरे की सेवा करने की प्रवृत्ति थी और वे एक दूसरे के प्रति उत्तम व्यवहार करते थे। सामान्यतः एक दूसरे के प्रति सहानुभूति की भावना रखते थे। व्यवहार कुशल होने के साथ–साथ वे सुख–दुख में बराबर एक दूसरे की सहायता करते थे।

2. अपेक्षित नियंत्रण

ये गण आपस में अपने भ्राताओं एवं पुत्रों पर नियंत्रण भी करते थे और उन्हें अनुशासित कर गुणवान बनाते थे।

3. उत्तम न्याय व्यवस्था

गणराज्यों को न्याय व्यवस्था अति उत्तम थी। कठ एवं सौभूति गणों की न्याय व्यवस्था की भूरि–भूरि प्रशंसा यूनानी लेखकों द्वारा की गई है। लिच्छिवि गणराज्य की न्याय व्यवस्था भी सुसंगठित थी।

4. आर्थिक सम्पन्नता

गणो के पास पर्याप्त धन था। जिससे वह अपनी प्रशासन कुशलता पूर्वक चलाते थे। सभी गणमान्य लोगों के सहयोग से पर्याप्त कोष जमा रहता था। गणराज्यों की आर्थिक सुसम्पन्नता से ही वे फलीभूत हुए।

5. समानता का प्रसार

गणों में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों को जाति तथा कुल के आधार पर समान समझा जाता है। कोई जातिगत भेदभाव आदि नहीं था। इसलिए सभी लोगों में अच्छे सम्बन्ध थे। उनमें उद्योग, बुद्धि तथा धन आदि अन्तर होने पर भी शासन में उनकी स्थिति एक समान होती थी।

6. उत्तम सैन्य व्यवस्था

गणों के सारे निवासी उत्तम कोटि के योद्धा थे। इस सेना में नागरिकों का समावेशन था तथा वे अन्य भर्ती किये गये सैनिकों से काफी अच्छे थे। ये गण यदि किसी अन्य शक्ति से विजय पाने के उद्देश्य से अपना संघ बनाते थे। तो उस समय ये लोग अजेय हो जाते थे। पाणिनी के आयुधजीवि तथा कौटिल्य के शस्त्रोपजीवि संघ के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गणराज्य के सभी नागरिक सेना के अंग माने जाते थे। प्राचीन भारत के यौधेय, क्षुद्रक तथा मालव गण अपनी वीरता और सैन्य शक्ति के लिए विख्यात थे।

कर्मशीलता

गणराज्य के निवासी गण अपनी प्रगति के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। प्रशासन के अतिरिक्त वे कृषि, पशुपालन और वाणिज्य में काफी रूचि लेते थे। वे कर्मशीलता के गुण से युक्त थे।

उपर्युक्त गुणों के साथ–साथ गणराज्यों के लोग अनुशासित, कर्त्तव्यनिष्ठ व आज्ञाकारी होते थे। प्रशासन में सुयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता व क्षमतानुसार उन्नति करने का अवसर मिलता था। महाभारत के अनुसार गण प्रमुख के लिए

प्रज्ञा, पोरूष, उत्साह, अनुभव, शास्त्र का ज्ञान आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया है।

गणराज्यों के दोष

गणों में गुणों के साथ दोष भी विद्यमान थे। वे इस प्रकार है–

1. लोभ और आपसी फूट

गणों में इसमें धन के प्रति काफी लोभ होता था और इसी कारण इनके शत्रु इनको सरलता पूर्वक धन देकर अपने में मिला लेते थे। इसके अतिरिक्त लोभ वश वे आपस में भी एक दूसरे के धन हड़प जाने को तैयार हो जाते थे और इसी से उनमें फूट पैदा हो जाती थी और यह उनके पतन का कारण था। महाभारत के अनुसार भेद (आपसी फूट) गणराज्यों के नाश का सबसे बड़ा कारण होता था।

2. लघु आकार

गण अपने आकार में लघु होते थे और इस कारण उनको बड़े और शक्तिशाली राज्यों द्वारा सरलता पूर्वक विजित किया जा सकता था।

3. मंत्रणा की गोपनीयता का अभाव

गणों में सदस्यों की अधिक संख्या होने के कारण उनमें मंत्रणा को गुप्त रख पाना बड़ा कठिन होता था। उनका यही दोष उनके विनाश का कारण बनता था।

4. षड़यंत्र

इनको पतित करने में षड़यंत्रों की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती थी। अपने गुप्तचरों द्वारा षड़यंत्र करवाकर कई स्वार्थी लोग अपने उद्देश्यों में सफल हो जाते थे और षड़यंत्रों से गणों का पतन होने लगता था।

5. परम्परागत प्रतिनिधित्व

गणों की राजनीतिक संस्थाओं में वंश परम्परागत प्रतिनिधित्व ने निर्वाचित प्रतिनिधित्व का स्थान ले लिया था, जिससे राजतंत्रीय दोष उत्पन्न हो गये थे। इनकी दुर्बलताओं के विषय में हम कह सकते हैं कि इनका आकार एक तो छोटा था। दूसरे ये और भी छोटे होने का

प्रयास करते थे। उनके राज्य संचालकों में परस्पर ईर्ष्या होती थी। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि गणो के पतन के दो कारण थे– लोभ व संघर्ष।

14.9 सारांश

गणराज्य भारतीय शासन व्यवस्था की अमूल्य निधि हैं। प्रत्येक मानस संस्था की भाँति गणराज्य अपनी शासन व्यवस्था, न्याय, अनुशासन प्रियता तथा लोकतान्त्रिक भावनाओं के कारण इतिहास में अप्रतिम स्थान के भागी हैं। गणराज्यों में सम्पूर्ण जनता की सहभागिता रहती थी तथा सभी मिलजुल कर शासन करते थे। सबके वाक स्वातन्त्र्य की रक्षा शासक का पुनीत कर्तव्य था।

14.10 बोध प्रश्न

1. गणराज्यों की शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. छठीं शताब्दी ई. पू. के प्रमुख गणराज्यों की शासन व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
3. गणराज्यों की शासन व्यवस्था के प्रमुख दोषों का वर्णन कीजिए।

14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धतियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2013
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
3. जायसवाल, काशी प्रसादः हिन्दू राजतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. गोपाल, लल्लन जी : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. त्रिपाठी, हरिहर नाथ : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका।
7. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड), लखनऊ, 1965
8. महाजन, वी. डी., प्राचीन भारत की इतिहास, दिल्ली, 1967

इकाई 15. मौर्य राज्यव्यवस्था न्याय का समुदाय आधारित प्रशासन

इकाई की रूपरेखा

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

15.3. मौर्य राज व्यवस्था का वर्गीकरण

15.4 केन्द्रीय प्रशासन व्यवस्था में सम्राट की भूमिका

15.5 प्रशासनिक अधिकारी

15.6 लोकहितकारी कार्य

15.7 प्रान्तीय प्रशासन व्यवस्था

15.8 सारांश

15.9. बोध प्रश्न

15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.0 प्रस्तावना

मौयों के नेतृत्व में भारत में प्रथम बार राजनीतिक एकीकरण के दर्शन हुए। सुदूर हिन्दुकुश पर्वत से मैसूर तथा बंगाल की खाड़ी से लेकर गुजरात तक सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोने का श्रेय मौर्यों को हैं। चन्द्रगुप्त तथा अशोक ने अपने पराक्रम से यह कार्य सफलतापूर्वक किया था।

15.1 उद्देश्य

मौर्यो के शासन काल में भारत में शासन प्रणाली का अत्यधिक केन्द्रीयकरण हुआ। इनका साम्राज्य काफी विस्तृत था। जिस पर सफलतापूर्वक शासन के लिए एक सृदृढ़ शासन तन्त्र की आवश्यकता थी। कौटिल्य जो मौर्य शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री थे, एक ऐसी ही शासन प्रणाली का वर्णन अपने ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' में किया है। हम इस इकाई के माध्यम से मौर्य युगीन शासन प्रणाली का अध्ययन करेंगे।

15.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मौर्य युग में एक सुविकसित प्रशासन तंत्र के दर्शन होते हैं। इस काल में केन्द्रीय, प्रान्तीय, जिला, नगर एवं ग्राम शासन की शासन व्यवस्था का स्पष्ट विवेचन प्राप्त होता है। मौर्य काल के बाद के कालखण्डों में भी शासन–व्यवस्था का यही स्वरूप कमोबेश बना रहा।

15.3. मौर्य राज व्यवस्था का वर्गीकरण

मौर्यकालीन शासन–व्यवस्था

मौर्य वंश के नेतृत्व में भारत ने सर्वप्रथम राजनीतिक एकीकरण के दर्शन किए। सुदूर हिन्दुकुश पर्वत से मैसूर तक तथा बंगाल से लेकर गुजरात तक मौर्यों का साम्राज्य फैल गया। इस विशाल साम्राज्य के नियन्त्रण के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने महामंत्री कौटिल्य (चाणक्य) की सहायता से एक सुदृढ़ प्रशासन–तंत्र की स्थापना की। इस प्रशासन–तंत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रपौत्र अशोक ने कतिपय परिवर्तन और सुधार किये।

मौर्ययुगीन शासन–व्यवस्था की जानकारी मुख्य रूप से कौटिल्य के अर्थशास्त्र मैगस्थनीज की इण्डिका तथा अशोंक के अभिलेखों से प्राप्त होती है। रूद्रदामन का गिरनार

अभिलेख भी पश्चिमी भारत में मौर्यों के प्रशासन पर प्रकाश डालता है। मौर्य शासन व्यवस्था को समझने लिए चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन–व्यवस्था और उसमें अशोक द्वारा किए गये प्रशासनिक सुधारों को समझना आवश्यक है।

15.4 केन्द्रीय प्रशासन व्यवस्था में सम्राट की भूमिका

सम्राट –

मौर्यकालीन शासन–व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। मंत्रियों व अधिकारियों की नियुक्ति, न्याय की व्यवस्था, आंतरिक शांति एवं सुरक्षा, युद्ध संचालन, सेना का नियंत्रण आदि सभी कार्य राजा के अधीन थे। कौटिल्य के अनुसार इतने शक्ति सम्पन्न पद को धारण करने वाला राजा उच्च कुल का, उत्साही, उद्यमी, सत्यवादी, पराक्रमी, बुद्धिमान, संयमी और दूरदर्शी होना चाहिए।

राजा की दिनचर्या अतिव्यस्त होती थी। वह पूरे दिन राजकाज में रत रहता था। विश्रान्ति, निद्रा और मनोरंजन के लिए उसे बहुत अल्प समय मिल पाता था। मैगस्थनीज ने लिखा है कि राजा दिन में सोता नहीं था और प्रतिपल कार्य में संलग्न रहता था। कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि राजा को प्रजा की शिकायतें सुनने के लिए सदैव सुलभ रहना चाहिए और प्रजा से अधिक देर प्रतीक्षा नहीं करानी चाहिए। अपने छठे शिलालेख में अशोक कहता है कि वह लोकहित के लिए प्रतिक्षण व प्रत्येक स्थान पर मिल सकता है और प्रजा की भलाई के कार्य करने में उसे बहुत संतोष मिलता है।

सम्राट् मुख्यतः राजधानी में अपने विशाल राजप्रासाद में रहा करता था। उसकी सुरक्षा के लिए अंगरक्षक एवं सशस्त्र सैनिक सदैव तैनात रहते थे।

15.5 प्रशासनिक अधिकारी

अमात्य, मंत्रीमण्डल एवं मंत्रिपरिषद् –

कौटिल्य के अनुसार जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकर अकेला राजा समस्त राजकाज नहीं चला सकता है। इसके लिए उसे अमात्यों या सचिवों की नियुक्ति करना चाहिए तथा उनसे मन्त्रणा करनी चाहिए। सचिव या अमात्य एक सामान्य संज्ञा थी, जिससे राज्य के सभी प्रमुख पदाधिकारयों का बोध होता था। यूनानी लेखकों ने अमात्यों का वर्णन सातवीं जाति काउंसलर्स एण्ड एसेसर्स (Counsellors and Assessors) के रूप किया है एरियन

कहता है कि इन्हीं से उनके सेनापति, एडमिरल, व्यय के नियामक और कृषि के अध्यक्ष चुने जाते है। इसी प्रकार स्ट्रेबो का कथन है कि इन्ही व्यक्ति के हाथों में राज्य के पद, न्यायालय तथा संपूर्ण प्रशासन रहता है।

अर्थशास्त्र से विदित होता है कि सम्राट मंत्रीमण्डल एवं 'मंत्रिपरिषद्' के परामर्श से ही राजकार्य का संचालन करता था। मिन्त्रणः एक छोटी उपसमिति होती थी, जिसमें तीन या चार सदस्य होते थे, जिन्हें मंत्री कहा जाता था। आत्ययिक (जिनके संबंध में तुरन्त निर्णय करना हो) विषयों पर 'मन्त्रिणः से परामर्श किया जाता था। संभवतः युवराज, प्रधानमन्त्री, सेनापति और सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) मन्त्रिणः के सदस्य थे। इन्हें 48000 पण वार्षिक वेतन मिलता था।

मंत्रीमण्डल के अतिरिक्त एक मन्त्रि–परिषद् भी होती थी, जिसकी सदस्य संख्या के विषय में कौटिल्य का मत है कि राजा को अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसमें मन्त्री रखना चाहिए, क्योंकि बड़ी मन्त्रिपरिषद् से राजा की 'मन्त्रिशक्ति' बढ़ती है। मन्त्रिपरिषद के सदस्यों को 12000 पण वार्षिक वेतन प्राप्त होता था। अशोक के तीसरे तथा छठें शिलालेखों से 'परिषा' की कार्यपद्धति की जानकारी मिलती है। छठें शिलालेख से ज्ञात है कि 'परिषा' राज्य की नीतियों व राजाज्ञाओं पर विचार–विमर्श करती थी और यदि आवश्यक समझती थी तों उनमें संशोंधन का सुझाव देती थी। राजा राजकार्य में मंत्रीमण्डल और मन्त्रिपरिषद् से सलाह लेता था और आमतौर पर बहुमत का निर्णय स्वीकार्य होता था। किंतु राजा को यह अधिकार था कि वह राज्य–हित में बहुमत के निर्णय की उपेक्षा कर उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि में कार्यसिद्धिकर हो। मन्त्री केवल उन्हीं व्यक्तियों को बनाया जाता था, जो 'सर्वोपधा शुद्ध' हो अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम, भय, आदि से प्रभावित हुए बिना काम करने में सक्षम हों।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि शासन की सुविधा के लिए केन्द्रीय प्रशासन अनेक विभागों में बँटा हुआ था। प्रत्येक विभाग को 'तीर्थ' कहा जाता था। अर्थशास्त्र में 18 तीर्थों का उल्लेख है। इन तीर्थों के प्रधान को 'महामात्य' कहा जाता था, जिनके नाम निम्नानुसार है –

1. मन्त्री या पुरोहित 2. समाहर्ता 3. सन्निधाता 4. सेनापति 5. युवराज 6. प्रदेष्टा 7. नायक 8. कर्मान्तिक 9. व्यवहारिक 10. मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष 11. दण्डपाल 12. अन्तपाल 13. दुर्गपाल 14. नागरक 15. प्रशस्ता 16. दौवारिक 17. आन्तवंशिक 18. आटविक

इनमें मन्त्री एवं पुरोहित का विभाग (तीर्थ) सबसे महत्वपूर्ण था। यद्यपि ये दोनों पृथक पद थे, पर सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ये दोनों विभाग कौटिल्य के अधीन थे। समाहर्ता राजस्व विभाग का प्रधान अधिकारी था, सन्निधाता राजकीय कोषाधिकरण का प्रमुख अधिकारी होता था, सेनापति युद्ध विभाग का महामात्य था, युवराज राजा का उत्तराधिकारी होता था, जो अपने पिता के शासन काल में प्रशासनिक कार्यों में उसकी सहायता करता था (दुर्ग व स्कन्धावार का प्रबंध इसी के हाथ में था), कर्मान्तिक देश के उद्योग–धन्धों का प्रधान निरीक्षक था, व्यावहारिक दीवानी न्यायालय का न्यायाधीश था, मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष मन्त्रिपरिषद का प्रमुख होता था, दण्डपाल सेना के लिए आवश्यक सामग्रियों को जुटाने वाला प्रधान अधिकारी था, अन्तपाल सीमावर्ती दुर्गों व स्कन्धावारों का रक्षक था, दुर्गपाल साम्राज्य के भीतर के दुर्गों का प्रबन्धक था, नागरक नगर का प्रमुख अधिकारी होता था, प्रशास्ता राजकीय लेखों को सुरक्षित रखने वाला तथा राजकीय आज्ञाओं को लिपिबद्ध करने कराने वाला प्रधान अधिकारी था, दौवारिक राजप्रसाद की देखरेख करने वाला प्रधान अधिकारी था, आन्तवंशिक सम्राट की अंगरक्षक सेना का प्रमुख था तथा आटविक वन विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। ये सभी महामात्य उच्च श्रेणी के अधिकारी थे।

अर्थशास्त्र के 'अध्यक्ष प्रचार' अध्याय में 26 अध्यक्षों का उल्लेख है। इनमें से 20 अध्यक्ष समाहर्ता के अधीन और 6 अध्यक्ष सन्निधाता के अधीन कार्य करते थे।

समाहर्ता का प्रमुख कार्य राजकीय करों को एकत्र करना था। इसके अधीन कार्यरत अध्यक्ष अपने–अपने विभागों के कार्यों का संचालन करते थे तथा उनसे सम्बन्धित राजकीय करों को एकत्रित करते थे। इन अध्यक्षों के नाम एवं कार्य निम्नुसार है।

1. शुल्काध्यक्ष – व्यापारिक शुल्क का संग्रहण
2. पौतवाध्यक्ष – तौल एवं माप के परिमाणों का नियन्त्रण
3. मानाध्यक्ष – दूरी और काल को मापने के साधनों का नियन्त्रण
4. सूत्राध्यक्ष – विभिन्न व्यवसायों पर नियन्त्रण
5. सीताध्यक्ष – कृषि विभाग का नियन्त्रण
6. सुराध्यक्ष – शराब के निर्माण, प्रयोग व व्यापार का नियन्त्रण
7. सूनाध्यक्ष – बूचड़खानों का नियन्त्रण
8. गणिकाध्यक्ष – वेश्याओं, नर्तकों, नटों, गायकों आदि के कार्यों का नियन्त्रण

9. मुद्राध्यक्ष – देश से बाहर जाने व विदेश से स्वदेश आने वाले लोगों को मुद्रा (पासपोर्ट) प्रदान करना
10. विवीताध्यक्ष – चरागाहों का प्रबन्ध
11. नावध्यक्ष – जलमार्गों, नौकाओं और जहाजों का प्रबंध
12. गोऽध्यक्ष – पशुशालाओं का प्रबन्ध
13. अश्वाध्यक्ष – अश्वशालाओं का नियन्त्रण
14. हस्त्यध्यक्ष – हस्तिवन तथा हस्तिशालाओं का नियन्त्रण
15. कुप्याध्यक्ष – वनों तथा वनोपजों का प्रबन्ध
16. पण्याध्यक्ष – व्यापार एवं वाणिज्य का नियन्त्रण
17. लक्षणाध्यक्ष – मुद्रा–पद्धति, सिक्कों के निर्माण व प्रचलन का प्रबन्ध
18. आकारध्यक्ष – खानों का प्रबन्ध
19. देवताध्यक्ष – मन्दिरों का प्रबन्ध
20. सौवर्णिक – टकसाल का प्रबन्ध

सन्निधाता का प्रमुख कार्य राजकीय कोश की गतिविधियों पर नियन्त्रण करना होता था। राजकीय आय तथा व्यय का ध्यान रखते हुए वित्तीय नीतियों का निर्धारण इसका दायित्व था। इसकी सहायता के लिए छः अध्यक्ष नियुक्त थे, जो अपने–अपने विभागों का कार्य सम्भालते थे। इनके नाम एवं कार्य निम्नानुसार हैं –

1. कोशागुहाध्यक्ष–बहुमूल्य वस्तुओं को राजकीय कोश में एकत्र करना इसका प्रमुख कार्य था।
2. पण्यगृहाध्यक्ष–राजकीय पण्य (कर्मान्तों द्वारा विक्रय के लिए तैयार किया गया माल) को एकत्र करना इसका कार्य था। ज्ञातव्य है कि पण्यगृहाध्यक्ष पण्य को एकत्रित करके रखता था। उसकी बिक्री की व्यवस्था समाहर्ता के अधीनस्थ पण्याध्यक्ष द्वारा की जाती थी।
3. काष्ठागाराध्यक्ष – राजकीय खर्च के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता होती थी, उन्हें कोष्ठागार में एकत्र करना इसका कार्य था।
4. कुप्यगृहाध्यक्ष–कुप्य पदार्थ (वनों से उपलब्ध विविध सामग्री) का संग्रहण इसका कार्य था।
5. आयुधगाराध्यक्ष–अस्त्र–शस्त्र के निर्माण एवं संग्रहण के प्रबन्ध के लिए यह नियुक्त होता था।

6. बन्धनगाराध्यक्ष–जेलखाने का प्रबन्ध करना इसका उत्तरदायित्व था।

मौर्यकालीन प्रशासन में इन अध्यक्षों का महत्वपूर्ण स्थान था। इन्हें 1000 पण वार्षिक वेतन मिलता था। मैगस्थनीज द्वारा वर्णित मजिस्ट्रेटों को अर्थशास्त्र के अध्यक्ष के रूप में समीकृत किया जा सकता है। स्ट्रेबों ने मेगस्थनीज को उद्घृत करते हुए मजिस्ट्रेट के विषय में लिखा है – 'इन मजिस्ट्रेटों में कुछ के नियन्त्रण में बाजा, कुछ के नगर और कुछ के सेना का प्रबन्ध रहता है। कुछ नदियों की देखरेख करते है, भूमि मापते है, जैसा कि मिश्र में होता है और बंद जलसंग्रहों की जाँच करते हैं, जिनसे नहरों द्वारा पानी बाँटा जाता है जिससे कि सबको बराबर मात्रा में जल प्राप्त हो सके। इन पदाधिकारियों के नियन्त्रण में आखेटक भी रहते हैं और इन्हें उनके कार्यों के अनुसार पुरस्कार अथवा दण्ड देने का अधिकार रहता है। ये कर एकत्र करते है और भूमि सम्बन्धी व्यवस्थाओं (लकड़ी काटना, बढ़ईगिरी, पीतल आदि खान के कार्यों) का निरीक्षण करते हैं। ये सार्वजनिक मार्गों का निरीक्षण करते हैं और प्रति दस स्टेडिया पर एक स्तंभ स्थापित कराते हैं, जिससे उपमार्गों और दूरियों का ज्ञान हो सके।'

केन्द्रीय महामात्य तथा अध्यक्षों के अधीन अनेक कर्मचारी होते थे, जिन्हे युक्त तथा तत्पुरुष कहा गया है। अशोक के शिलालेखों में भी 'युक्त' का उल्लेख है। इन कर्मचारियों के माध्यम से केंद्र और स्थानीय शासन के बीच संपर्क बना रहता था।

IV **सेना**

चन्द्रगुप्त मौर्य के पास एक विशाल, शक्तिशाली और सुसंगठित सेना थी। यूनानी लेखकों के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में 6 लाख पदाति, 30 हजार घुड़सवार और 9 हजार हाथी थे। रथों की संख्या के विषय में ग्रीक लेखकों में मतभेद है। कर्टियस ने उनकी संख्या 2,000 लिखी है और प्लूटार्क ने 8,000। इन विदशी वृत्तान्तों में अतिशयोक्ति हो सकती है। तब भी, चन्द्रगुप्त की सेल्यूकस पर विजय, अर्थशास्त्र में विस्तार से वर्णित सैन्य संगठन एवं अशोक कालीन भयावह कलिंग युद्ध से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि मौर्य शासन–व्यवस्था में विशाल सैनिक संगठन विद्यमान था।

मेगस्थनीज के अनुसार इस सेना का प्रबन्ध एक पृथक विभाग करता था, जिसमें 30 सदस्य होते थे। सन्य–विभाग के ये 30 सदस्य पाँच–पाँच सदस्यों की छः उपसमितियों में विभक्त थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नानुसार थे –

1. पहली उपसमिति पदाति सेना की व्यवस्था करती थी,
2. दूसरी उपसमिति अश्वारोही सेना का प्रबन्ध करती थी,
3. तीसरी उपसमिति के अधीन रथ सेना की देख–रेख का कार्य था,
4. चौथी उपसमिति का कार्य हस्तिसेना की व्यवस्था करना था,
5. पाँचवीं उपसमिति सेना के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री, युद्ध के लिए उपयोगी अस्त्र–शस्त्र व उपकरण तथा यातायात के साधन जुटाने का कार्य करती थी,
6. छठी उपसमिति पर जल–सेना के लिए उपयुक्त प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार के सैन्य विभाग का वर्णन नहीं है। परन्तु कौटिल्य ने जन विभागों के अध्यक्षों को पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, गोऽध्यक्ष और नायध्यक्ष कहा है, वे संभवतः उन्हीं उपसमितियों को दर्शातें हैं, जिनका मेगस्थनीज ने उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने सेना को चार भागों में विभक्त किया है – पत्ती या पदाति सेना, अश्वसेना, रथ सेना और द्विप या हस्ति सेना। सेना के इन अंगों की व्यवस्था संभवतः पत्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष संभालते थे। अर्थशास्त्र में हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि अधिकारियों का भी उल्लेख है, इनका वेतन हस्त्यध्यक्ष आदि से दुगना होता था। इसमें यह भी उल्लेख है, इनका वेतन हस्त्यध्यक्ष आदि से दुगना होता था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य और रथमुख्य सैनिक पदाधिकारी थे जो रणक्षेत्र में सेना का संचालन करते थे। जबकि हस्त्याध्यक्ष आदि सेना के प्रबंध संबंधी कार्य करते थे। चतुरंग बल (पदाति, रथ, अश्व व हस्ति) बल के अतिरिक्त कौटिल्य ने मौल बल, भृतक बल, श्रेणी बल, मित्र बल, अमित्र बल और अटवि बल का भी निरुपण किया है ऐसा प्रतीत होता है कि ये बल सेना के स्थायी सदस्य नहीं होते थे, बल्कि युद्ध के अवसर पर इनकी भर्ती कर ली जाती थी। इनका परिचय निम्नवत है –

मौल बल – देश के वे निवासी जो देश भक्ति से प्रेरित होकर युद्ध के अवसर पर देश के लिए लड़ना चाहते थे, सैनिक के रुप में इस बल में भर्ती कर लिए जाते थे।

भृतक बल – वेतन के आकर्षण से सेना में भर्ती हुए सैनिक इसमें सम्मिलित किए जाते थे।

श्रेणी बल –ऐसा प्रतीत होता है कि श्रेणियाँ (व्यावसायियों व शिल्पियों के संगठन) अपनी रक्षा के लिए कुछ निजी रक्ष रखा करती थीं, जिनकी सेवायें युद्ध के अवसर पर राज्य प्राप्त कर लेता था।

मित्र बल –मित्र राज्य की सेना मित्र बल कहलाती थी।

अमित्र बल –पराजित शत्रु राज्य की सेना को युद्ध में प्रयुक्त करने पर उसे अमित्र बल कहा जाता था।

आटवि बल –युद्ध में कुशल आटविक (जंगली) जातियों की सैनिक क्षमता का प्रयोग आटवि बल की भाँति किया जाता था।

युद्ध के अवसर पर राजा स्वयं सेना का नेतृत्व करता था और वही सेना का सर्वोच्च अधिकारी था। उसके बाद सैन्य विभाग में सेनापति का स्थान था। सेनापति मंत्रीमण्डल का सदस्य होता था और उसे 48,000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। सेना का संचालन करने वाला अधिकारी 'नायक' कहलाता था। सेनापति के पश्चात् नायक का पद ही महत्वपूर्ण था, जिसे 12,000 पण वार्षिक वेतन प्राप्त होता था। सेना के विभिन्न अंगों का संचालन करने वाले हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि को 8,000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथध्यक्ष एवं हस्त्याध्यक्ष का वेतन 4000 पण वार्षिक था। रथिक या रथारोही को 2000 पण व आरोहक (हाथी या घोड़े का सवार) को 500–1000 पण तक वार्षिक वेतन प्राप्त होता था। प्रशिक्षित (शिल्पवन्त) पदाति को 500 पण वार्षिक वेतन मिलता था।

राजा की रक्षा के लिए पृथक् अंगरक्षक सेना संगठित थी, जिसका प्रधान अधिकारी 'आन्तवंशिक' होता था। इसका वेतन 24000 पण वार्षिक था। दण्डपाल, अन्तपाल और दुर्गपाल को 12000 पण वार्षिक वेतन की प्राप्ति होती थी।

अर्थशास्त्र में सैनिकों के द्वारा प्रयुक्त उपकरणों व अस्त्र–शस्त्र, युद्ध के प्रकारों तथा व्यूह–रचना की विधियों का विशद विवरण प्राप्त होता है।

V गुप्तचर विभाग –

सुसंगठित गुप्तचर विभाग मौर्य शासन व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग था। इसका कार्य आम जनता से लेकर सभी अधिकारियों के क्रियाकलापों पर दृष्टि रखना और पड़ोसी राज्यों के संबंध में सारी जानकारी प्राप्त करना होता था। यह विभाग एक पृथक अमात्य के अधीन रखा

गया जिसे 'महामात्यासर्प' कहा जाता था। यूनानी लेखकों ने गुप्तचरों को निरीक्षक तथा ओवरसियर्स कहा है। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है – संस्था और संचार। 'संस्था वे गुप्तचर थे जो एक ही स्थान पर संस्थाओं में संगठित होकर कापटिक छात्र, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक और तापस के वेश में काम करते थे। 'संचार' ऐसे गुप्तचर थे जो अनेक वेश धारण करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम–घूम कर जाकारियाँ एकत्र करते थे।

गुप्तचरों की संस्थाएँ समाज के विभिन्न वर्गों, जैसे नाई, रसोईया,प्रसाधक, नट, गायक, सेवक आदि को भेदी (मुखबिर) की तरह प्रयुक्त करती थीं। पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी गुप्तचरी करती थीं। वेश्याओं का प्रयोग प्रायः गुप्त भेद प्राप्त करने के लिए किया जाता था।

गीत, वाद्य, धूम्र, अग्नि तथा कबूतरों के द्वारा गूढ़ संकेत भेजे जाते थे। असत्य सूचना देने पर गुप्तचरों को दण्डित किया जाता था अथवा पदमुक्त कर दिया जाता था।

15.6 लोकहितकारी कार्य

अत्यधिक केंद्रीयकृत मौर्य शासन में राज्य जन–कल्याणकारी कार्यों का दायित्व भी संभालता था। सिंचाई तथा जल आपूर्ती व्यवस्था के लिए कौटिल्य ने सेतुबंध (बाँध निर्माण), कूपखान, तालाब (तटाक) निर्माण तथा नहर (कुल्या) निकाले जाने का उल्लेख किया है। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख से ज्ञात होता है कि पश्चिमी भारत में सिंचाई की सुविधा के लिए चन्द्रगुप्त के सुराष्ट्र प्रान्त के प्रान्तपति वैश्य पुष्यगुप्त ने सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। यह झील गिरनार के समीप उर्जयत पर्वत से निकलने वाली सुवर्णसिकता और पलाशिनी नदियों पर कृत्रिम बाँध बनाकर निर्मित की गई थी। अशोक के काल में उसके प्रान्तपति तुषास्फ ने इससे नहरें निकलवायी थीं। यात्रियों व व्यापारियों की सुविधा के लिए राज्य द्वारा जल मार्ग स्थल मार्ग एवं यातायात के साधनों का भी प्रबन्ध किया जाता था। जनता की स्वास्थ्य रक्षा के लिए औषधालयों एवं चिकित्सा के काम आने वाली औषधियों की समुचित व्यवस्था के प्रति भी राज्य सचेष्ट था। अग्नि, उदक (बाढ़), व्याधि (महामारी), दुर्भिक्ष (अकाल), मूषिका (चूहों का उपद्रव), व्याल (हिंसक जन्तु) सर्प और रक्ष (भूत, प्रेत, राक्षस) इन आठ 'दैव मामयों' से जनपदों की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य माना जाता था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन–व्यवस्था लोकोपकारी थी। सरकार के विषय में उसकी धारणा पितृपरक थी। स्वयं निरंकुश होते हुए भी व्यवहार में वह धर्म लोकाचार और न्याय के अनुसार ही शासन करता था।

15.7 प्रान्तीय प्रशासन व्यवस्था

चन्द्रगुप्त मौर्य के विशाल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, परन्तु वहाँ से कम्बोज, बंग और आन्ध्र तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारू रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः सफल शासन की दृष्टि से संपूर्ण साम्राज्य अनेक चक्रों (प्रान्तों) में विभाजित था। साम्राज्य के प्रान्तों की निश्चित संख्या हमें ज्ञात नहीं है। अशोक के अभिलेखें से हमें निम्नलिखित प्रान्तों के नाम ज्ञात होते हैं –

(1) उदीच्य (उत्तरापथ) –इसमें पश्मिोत्तर प्रदेश सम्मिलित था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

(2) अवन्तिरट्ठ –इस चक्र की राजधानी उज्जयिनी थी।

(3) कलिंग –यहाँ की राजधानी तोसली थी।

(4) दक्षिणापथ –इसमें दक्षिण भारत का प्रदेश सम्मिलित था। जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी।

(5) प्राच्य या प्रासी –इससे तात्पर्य पूर्वी भारत से है। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी।

उपर्युक्त प्रान्तों में से उत्तरापय अवन्तिरट्ठ और प्राच्य निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में विद्यमान थे। यह असम्भव नहीं कि दक्षिणापथ भी उसके साम्राज्य का एक अंग रहा हो। इन प्रान्तों के राज्यपाल प्रायः राजकुल से सम्बन्धित 'कुमार' होते थे। किंतु कभी–कभी अन्य योग्य व्यक्तियों को भी राज्यपाल बनाया जाता था। चन्द्रगुप्त ने पुष्यगुप्त वैश्य को काठियावाड़ का राज्यपाल बनाया था। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्यपाल (प्रान्तपति) को 12,000 पण वार्षिक वेतन मिलता था। वे अनेक अमात्यों एवं अध्यक्षों की सहायता से प्रान्तों का शासन चलाते थे। उनके पास अपनी मन्त्रिपरिषद् भी थी।

मण्डल तथा जिले का प्रशासन

चक्रों (प्रान्तों) के अन्तर्गत अनेक 'मण्डल' होते थे। जिनकी समता हम आधुनिक कमिश्नरियों से स्थापित कर सकते है। मण्डल जिलों में विभक्त थे, जिन्हें 'आहार' कहा जाता था। प्रो. ए. एस. अल्तेकर ने अशोक के तृतीय शिलालेख में क्रमशः वर्णित प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त के

आधार पर यह अनुमान लगाया है कि मण्डल के प्रमुख अधिकारी प्रादेशिक (या प्रदेष्टा) कहलाते थे। आहार के प्रधान अधिकारी रज्जुक थे और युक्त इनके अधीन कार्यरत कर्मचारी थे। आहार के नीचे 'स्थानीय' होता था जिसमें 800 ग्राम थे। स्थानीय के अन्तर्गत दो 'द्रोणमुख' होते थे। प्रत्येक में चार–चार सौ ग्राम होते थे। 'द्रोणमुख' से नीचे 'खार्वटिक' तथा खार्वटिक के अन्तर्गत 2. 'संग्रहण' होते थे। प्रत्येक खार्वटिक में दो सौ ग्राम तथा प्रत्येक 'संग्रहण' में दस ग्राम थे। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। लघु प्रशासनिक इकाइयों का परिचय निम्न तालिका से स्पष्ट है –

ग्राम – सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई

संग्रहण – 10 ग्राम (गॉव)

खार्वटिक (20 संग्रहण) – 200 ग्राम

द्रोणमुख (दो खार्वटिक) – 400 ग्राम

स्थानीय (दो द्रोणमुख) – 800 ग्राम

इन संस्थाओं के प्रमुख न्यायिक, कार्यकारी और राजस्व सम्बन्धी अधिकारों का उपभोग करते थे। इस कार्य में युक्त नामक कर्मचारियों की सहायता प्राप्त होती थी। ग्राम का प्रमुख 'ग्रामिक', संग्रहण का प्रमुख 'गोप' और स्थानीय (या द्रोणमुख या खार्वटिक) का प्रमुख स्थानिक होता था। मैगस्थनीज ने जिले के अधिकारियों को 'एग्रोनोमोई' कहा है।

नगरीय प्रशासन –

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'नागरक' तथा अशोक के अभिलेखों में 'नगरव्यावहारिक' शब्द मिलते हैं। ये संभवतः नगर का प्रशासन सम्भालने वाली परिषद के प्रमुख थे। शान्ति व्यवस्था कायम रखना, सफाई का प्रबन्ध करना और नगर को आग लगने से बचाना इसके प्रमुख कार्य थे। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का शासन संभालने वाली एक नगर–परिषद् का उल्लेख किया है। इसमें पाँच–पाँच सदस्यों वाली छः समितियाँ थीं। पहली समिति विभिन्न उद्योग–धन्धों का निरीक्षण तथा कारीगरों के हितों की देखरेख करती थी। दूसरी समिति विदेशियों के भोजन, निवास और चिकित्सा का प्रबंध करती थी। यदि कोई विदेशी मर जाता था तो उसके दाह–संस्कार तथा उसकी सम्पत्ति को उसके उचित उत्तराधिकारियों को देने का काम भी यही समिति करती थी। राज्य की सुरक्षा के लिए विदेशियों के आचरण व उनकी गतिविधयों के

ऊपर कड़ी दृष्टि रखना इस समिति का कार्य था। तीसरी समिति जन्म–मरण की संख्या का ब्यौरा रखती थी। चौथी समिति नगर के व्यापार–वाणिज्य की देख–रेख करती थी। विक्रय की वस्तुओं तथा माप–तौल की जांच करना इसी का कार्य था। किसी भी व्यक्ति को दो वस्तुओं को बेचने की अनुमति तब तक नहीं मिलती थी जब तक कि वह दूना कर अदा न कर दे। पाचवीं समिति का कार्य बाजार में बिकने वाली वस्तुओं में मिलावट रोकना और मिलावट करने वालों को दण्ड दिलवाना था। छठी समिति पर क्रय–विक्रय की वस्तुओं पर कर लेने का दायित्व था। विक्रय मूल्य का $\frac{1}{10}$ भाग विक्रय कर के रूप में वसूला जाता था और कर की चोरी करने वालों को मृत्युदण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज नगर के अधिकारियों को 'एस्टिनोमोई' कहता है।

पाटलिपुत्र की इस व्यवस्था से अनुमान होता है कि देश के अन्य नगरों का शासन भी संभवतः इसी प्रकार विभिन्न समितियों द्वारा किया जाता होगा।

ग्राम प्रशासन –

ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट होता है कि मौर्य युग में ग्रामों में स्वायत्त संस्थाओं की सत्ता थी। इन्हें 'ग्रामसंघ' कहते थे। ग्रामसंघ के सदस्य 'ग्रामवृद्ध' कहलाते थे जो ग्राम की सार्वजनिक हित, मनोरजंन तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध सुनिश्चित करते थे।'' इस ग्रामसंघ का मुखिया 'ग्रामिक' कहलाता था। ग्रामिक को ग्राम की भूमि का प्रबंध करने और सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करने का अधिकार था। ग्रामसंघ न्याय का कार्य भी करता था और ग्रामों के छोटे–मोटे विवादों का फैसला करना और जुर्माना लगाना इसके अधिकार में था। केन्द्रीय शासन की ओर से भी ग्राम के प्रशासन के लिए गोप नामक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था। प्रायः से 10 ग्रामों पर एक 'गोप' नियुक्त किया जाता था। गोप के मुख्य कार्य इस प्रकार थे – ग्रामों की सीमा निर्धारित करना ग्राम के घरों में निवासियों की संख्या का ब्यौरा रखना, भूमि का हिसाब और करों का विवरण रखना।

चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन ग्राम–शासन के विषय में सौहहगौरा (गोरखपुर) तथा महास्थान (बांग्लादेश के बोगरा जिले में स्थित) के लेखों से कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती है। इनमें जनता की सुरक्षा के लिए बनवाये गये कोष्ठागारों का उल्लेख है। अर्थशास्त्र में भी कोष्ठागारों निर्माण

की चर्चा है। इससे लगता है कि कर वसूली अन्न के रूप में की जाती थी तथा इन्हें कोष्ठगारें में संचित किया जाता था। इस अन्न को सूखा, अकाल जेसी दैवी विपत्तियों के समय ग्रामीण जनता के बीच वितरित किया जाता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजधानी से लेकर ग्रामों तक चंद्रगुप्त मौर्य ने एक केन्द्रीय नियंत्रण वाले प्रशासन तंत्र की स्थापना की। कौटिल्य ने इस तंत्र द्वारा न्याय, रक्षा एवं प्रजा के कल्याण का आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया। तब भी अत्यधिक केन्द्रीय नियन्त्रण, दण्ड की कठोरता तथा संपूर्ण साम्राज्य में गुप्तचरों की साधारणशीलता से लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अवश्य ही बाधित हुई होगी। अशोक ने प्रशासन की इन कमियों को पहचान कर उसमें यथोचित सुधार करके उसे अधिक लोकहितकारी बनाने का प्रयास किया।

15.8 राजकीय आय–व्यय

विशाल मौर्य साम्राज्य के शासन–संचालन के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता थी। कौटिल्य ने राजकीय आय के निम्नलिखित साधन बताये हैं –

1. दुर्ग – नगरों से ब्रिकी कर, चुंगी जुर्माने आदि के रूप में प्राप्त आय
2. राष्ट्र – ग्रामीण क्षेत्रों से, भूमि कर, सिंचाई कर, चारागाह कर आदि के रूप में प्राप्त आय
3. खनि – खानों से प्राप्त आय
4. सेतु – उद्यानों से प्राप्त आय
5. वन – वनों से प्राप्त आय
6. व्रज – पशुधन (गाय, घोड़ा, भैस, बकरी आदि) से प्राप्त आय
7. वणिक् पथ – स्थल एवं जल मार्ग से कर के रूप में प्राप्त आय

इन सात साधनों के आधार पर डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने राज्य की आय के निम्नलिखित स्रोत बताए है

1.भमि कर 2. आयात और निर्यात कर 3. बिक्री कर 4. प्रत्यक्ष कर 5. राज्य द्वारा संचालित उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार 6. दण्ड या जुर्माना 7. मुद्रा–प्रचलन

1. भूमि कर –मौर्य साम्राज्य में दो प्रकार की भूमि थी – एक, जो राज्य के प्रत्यक्ष अधिकार में थी, दूसरी, जो किसानों के पास थी। राज्य को अपनी भूमि से जो आय होती थी, उसे

'सीता' कहते थे, जबकि किसानों के अधिकार वाली भूमि से 'भाग' वसूल किया जाता था। राजकीय भूमि पर खेती कराने और वहां से उपज प्राप्त करने के लिए 'सीताध्यक्ष' नामक अमात्य नियुक्त होता था। 'भाग' प्रायः उपज का 1/6 होता था, परन्तु भूमि की उपज शक्ति एवं कृषक के पास उपलब्ध सिंचाई क्षमता के आधार पर इसमें कुछ वृद्धि भी कर दी जाती थी। अशोक ने भगवान बुद्ध की जन्मस्थली होने के कारण लुम्बिनी ग्राम के भाग को घटाकर 1/8 कर दिया था।

राजकीय भूमि में से कुछ भूमि आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि को निर्वाह हेतु दी जाती थी। इन भूमियों को 'ब्रह्मदेय' कहते थ। इन भूमियों पर न तो कोई भूमि कर लिया जाता था और न कोई जुर्माना।

2. **आयात और निर्यात कर** –आयात और निर्यात की जाने वाली सामग्रियों पर कर लिया जाता था। आयात कर को 'प्रवेश्य' तथा निर्यात कर को 'निष्क्राम्य' कहते थे। आयात कर प्रायः 20 प्रतिशत होता था। परन्तु निर्यात कर की दर निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होती।
3. **बिक्री कर** –मौर्य युग में किसी भी पदार्थ को बेचने पर कर लिया जाता था। कोई भी वस्तु इस बिक्री कर से न बच सके। इसके लिए यह नियम बनाया गया कि उत्पादन–स्थल पर कोई भी पदार्थ नहीं बेचा जायेगा। समस्त उत्पाद पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाए जाते थे और उन पर शुल्क (चुंगी) लिया जाता था। शुल्क की दर इस प्रकार थी –

(अ) गिनकर बेची जाने वाली वस्तुओं पर $9\frac{1}{12}\%$

(ब) तौल कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर 5%

(स) नाप कर बेची जानें वाली वस्तुओं पर $6\frac{1}{4}\%$

4. **प्रत्यक्ष कर** –विभिन्न व्यवसायों पर प्रत्यक्ष कर लगाए गये थे। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं

(क) तौल और माप के बाटों व मानों को प्रमाणित करवाने के लिए 4 माषक कर लिया जाता था। इन बाटों व मानों के प्रयोग के लिए प्रतिदिन एक 'काकिणी' भी वसूल की जाती थी।

(ख) जुआरियों पर कर – जुआ खेलने की अनुमति प्राप्त करने के लिए कर देना पड़ता था तथा जुए में जीते गये धन की 5% राशि राज्य को देनी होती थी।

(ग) मनोरंजन पर कर – वेश्याओं, नटों, गायकों, नर्तकों, गायकों, वादकों आदि से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर के रूप में लिया जाता था।

(घ) व्यवसाय पर कर – धोबी, सुनार, बुनकर, चिकित्सक आदि व्यवसायियों को अपना धन्धा करने के लिए राज्य को कर देना होता था।

उपर्युक्त कर समय पर जमा न करने तथा नियम विरुद्ध कार्य करने पर जुर्माना भी वसूल किया जाता था।

5. राज्य द्वारा संचालित उद्योग, व्यवसायों तथा व्यापार से आय –

राज्य स्वयं खनिज, वनोपज, नमक, अस्त्र–शस्त्र और शराब का निर्माण तथा व्यापार करता था। इन सबसे राज्य को अच्छी आमदनी होती थी।

6. जुर्मानों से आय –

अनेक अपराधों के लिए दण्ड स्वरुप लिया जान वाला जुर्माना भी राज्य की आय का साधन था।

7. मुद्रा–प्रचलन से आय –

मुद्रा–पद्धति पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था। सिक्के राजकीय टकसाल में ढाले जाते थे। व्यक्ति अपनी धातु ले जाकर सिक्के ढलवा सकता था, परन्तु इसके लिए उसे लगभग $13\frac{1}{8}\%$शुल्क देना होता था। इसके अतिरिक्त आपात्काल में राज्य सम्पत्ति भी जब्त कर सकता था। इस समय मंदिरों व धार्मिक संस्थाओं से भी कर लिए जाते थे तथा जनता से राज्य को उदारतापूर्वक दान देने का अनुरोध किया जाताथा।

राजकीय व्यय निम्नलिखित मदों में होता था –

(1) राजा और उसके परिवार का भरण–पोषण (2) राजकर्मचारियों के वेतन (3) सैन्य व्यवस्था (4) शिक्षा (5) निर्बल, वृद्ध रोगी तथा अनाथों का भरण–पोषण (6) सार्वजनिक आमोद–प्रमोद हेतु उद्यान, पुण्यस्थान, चिड़ियाघर (वाट) आदि का निर्माण (7) सड़क, नहर, झील, कूप इत्यादि का निर्माण (8) औषधालयों का निर्माण।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य का कर ढांचा अत्यंत सुदृढ़ था तथा राज्य की आमदनी के बहुत से साधन थे। यद्यपि राजा, राजकर्मचारियों तथा सेना पर इस आय का बड़ा भाग खर्च होता था, तथापि सार्वजनिक हित के कार्यों पर भी राज्य पर्याप्त धन व्यय करता था।

VII **विधि और न्याय –**

अर्थशास्त्र से एक सुसंगठित विधि एवं न्याय व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। कौटिल्य ने विधि (कानून) के चार अंग बताये हैं– (1) धर्म (2) व्यवहार (3) चरित्र (4) राजशास्त्र। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए स्वयं कौटिल्य ने लिखा है – ''धर्म का आचार सत्य है, व्यवहार साक्षियों पर आश्रित होता है, मनुष्यों में परम्परागत रूप से चले आए नियम चरित्र कहलाते है और राजा द्वारा प्रचारित आज्ञाओं को राजशासन या शासन कहा जाता है।''

वस्तुतः 'धर्म' से तात्पर्य उन सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों के समूह से है जो प्रायः सभी के द्वारा मान्य होते हैं। दो व्यक्ति या व्यक्ति समूह परस्पर मिलकर समझौते द्वारा जो तय करें, उसे 'व्यवहार' कहते थ। इस व्यवहार का निर्णय साक्षियों के आधार पर ही करना संभव था। जिसे वर्तमान में परम्परागत कानून कहते हैं, उसी को कौटिल्य ने 'चरित्र' कहा है।

कानून में राजशासन का स्थान सर्वोच्च था। यदि राजा की ओर से कोई ऐसी आज्ञा प्रसारित हो, जो पारस्परिक व्यवहार के विरूद्ध हो, तो राजकीय आज्ञा ही मान्य समझी जायेगी, चरित्र या व्यवहार नहीं।

मौर्य काल में दण्ड विधान अत्यन्त कठोर था। अर्थशास्त्र में विभिन्न अपराधों के लिए निर्धारित दण्ड की विस्तृत चर्चा है। सामान्य अपराधों पर आर्थिक जुर्माने लगाए जाते थे। कौटिल्य तीन प्रकार के अर्थदण्डों का उल्लेख करता है –

(1) पूर्व साहस दण्ड – 48 से 96 पण तक

(2) मध्यम साहस दण्ड – 200 से 500 पण तक

(3) उत्तम साहस दण्ड – 500 से 1000 पण तक

इसके अतिरिक्त कैद, कोड़े मारना, अंग–भंग तथा मृत्यु दण्ड की सजा दी जाती थी। मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिए विभिन्न न्यायालय थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम संघ का होता था। जिसमें ग्रामिक ग्रामवृद्धों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्ड देता था। इसके ऊपर पाटलिपुत्र का केंद्रीय न्यायालय होता था। सबसे ऊपर राजा होता था, जो किसी भी मामले में अंतिम निर्णय देने का अधिकार रखता था। ग्राम, संघ और राजा के न्ययालय के अतिरिक्त

बीच के सभी न्यायालय दो प्रकार के थे – धर्मस्थीय और कण्टकशोधन। इन न्यायालयों का अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं है, तब भी सामान्यतः इन्हें क्रमशः दीवानी और फौजदारी न्यायालय कह सकते है। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे और कण्टकशोधन के प्रदेष्टा। दोनों प्रकार के न्यायालयों में तीन–तीन धर्मस्थ और प्रदेष्टा न्याय कार्य का सम्पादन करते थे। यूनानी लेखकों ने ऐसे न्यायालयों की भी चर्चा की है जो भारत में रहने वाले विदेशियों के मामलों पर विचार करते थ। जो अमात्य 'धर्मोपधाशुद्ध' अर्थात धार्मिक प्रलोभनों द्वारा शुद्ध चरित्र वाले सिद्ध होते थे, उन्हें ही न्याशधीश नियुक्त किया जाता था। गलत निर्णय देने, निरपराध को दण्ड देने या अपराधी को मुक्त कर देने के दोष में न्यायाधीशों एव न्यायालय के अन्य कर्मचारियों को दण्ड दिये जाते थे जिस अपराध में कोई प्रमाण नहीं मिलता था, वहाँ जल, अग्नि, विष आदि द्वारा दिव्य परीक्षाएँ ली जाती थीं।

15.9 सारांश

मौर्यों ने अपने अत्यंत विस्तृत साम्राज्य को प्रान्तों में बाँट कर प्रान्तपतियों के माध्यम से शासन व्यवस्था का संचालन किया। इनकी केन्द्रीय शासन प्रणाली अत्यन्त घनीभूत थी। केन्द्रीय प्रशासन का शासन की प्रत्येक ईकाई पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित रहता था।

15.10. बोध प्रश्न

1. मौर्यों की केन्द्रीय शासन व्यवस्था के बारें में आप क्या जानते हैं?
2. मौयों के प्रान्तीय शासन व्यवस्था के बारें में एक निबन्ध लिखिए।
3. मौर्य शासन की आय के प्रमुख स्रोत बताईये।

15.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धतियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2013
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
3. जायसवाल, काशी प्रसादः हिन्दू राजतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. गोपाल, लल्लन जी : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. त्रिपाठी, हरिहर नाथ : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका।
7. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड), लखनऊ, 1965
8. महाजन, वी. डी., प्राचीन भारत की इतिहास, दिल्ली, 1967